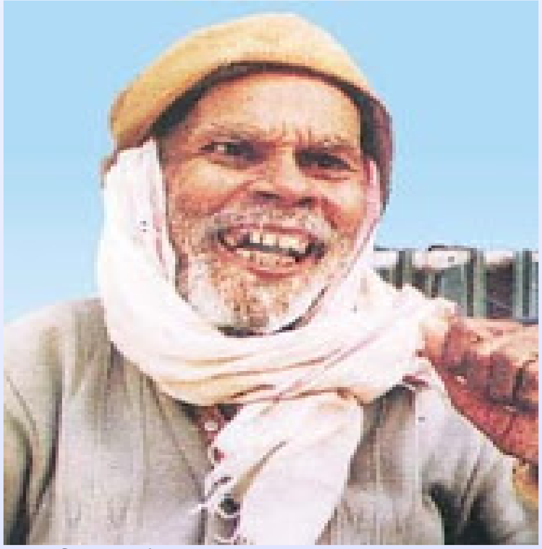

जनकवि नागार्जुन

ग्लोबल का बल और राष्ट्रीयता

प्रफुल्ल कोलख्यान

'साहित्य क्या राजनीति के आगे फटी जूती भी नहीं है? साहित्य क्या अशोकचक्रवाली त्रिवर्ण पताका के समक्ष घूरे पर का चिथड़ा भी नहीं है?'[1]

- नागार्जुन

1. रचना और जीवन

रचनाकार तभी महत्त्वपूर्ण होता है, जब उसके रचनात्मक सरोकार के केंद्र में जगत की विविधता के साथ ही जीवन की समग्रता भी हो। नागार्जुन जगत की विविधता के साथ ही जीवन की समग्रता के भी रचनाकार हैं। यह नागार्जुन साहित्य की महत्ता है, लेकिन उनके साहित्य की सार्थकता इस बात में अंतर्निहित है कि वे मन ओर प्राण से वंचित जीवन के पक्षधर रचनाकार हैं। उनकी रचनात्मकता की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति कविता में होती है, इसलिए कहा जा सकता है कि आधुनिक समय में नागार्जुन वंचित जीवन के सबसे बड़े कवि हैं। एक ऐसा कवि जो जय से मुग्ध नहीं होता, पराजय से पराभूत नहीं होता! एक ऐसा कवि जो 'पूर्णकाम' न हो सकनेवालों को भी श्रद्धा से प्रणाम कर सकता है–'जिनकी सेवाएँ अतुलनीय/ पर विज्ञापन से रहे दूर/ प्रतिकूल परिस्थिति ने जिनके/ कर दिए मनोरथ चूर-चूर! उनको प्रणाम!'[2] जीवन अपने आप में बहुत ही जटिल होता है, वंचित जीवन का तो कहना ही क्या! नागार्जुन जिस वंचित जीवन के कवि हैं, उस जीवन का निर्वाह कोई कम चुनौतीपूर्ण नहीं होता है। जितना जटिल जीवन होता है उससे ज्यादा जटिल जीवन का निर्वाह होता है। खासकर तब, जब जीवन में 'ज्यों की त्यों चदरिया' धर देना, जीवन-संकल्प और जीवन-संतोष के व्यवहार का मुख्य आधार बन गया हो! कहना न होगा कि 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' का प्राचीन सूत्र अध्यात्मवाद की पराकाष्ठा से और अर्वाचीन सूत्र चिरंतनता (Sustainability) की अनिवार्यता से जुड़ता है। समाज और सभ्यता को बदलने के लिए नागार्जुन के 'जीवन-संकल्प और जीवन-संतोष' में 'प्रतिबद्धता और असंतोष' का प्रवेश उनके रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण की सामाजिक प्रक्रिया बन जाता है। नागार्जुन 'संकल्प और संतोष' से कहीं अधिक 'प्रतिबद्धता और असंतोष' के कवि हैं। उनकी कविता को समग्रता में 'प्रतिबद्धता और असंतोष' की जटिलताओं के साथ ही समझा जा सकता है। नागार्जुन में दिखायी पड़नेवाले हिंदी भाषा की विविधता और समृद्धि के अद्भुत सर्जनात्मक संयोग का गुण-सूत्र 'प्रतिबद्धता और असंतोष' की इन्हीं जटिलताओं से न सिर्फ जुड़ा है, बल्कि इन्हीं से विकसित भी है। नागार्जुन के साहित्य की मूल चेतना और स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की मनोभूमि के विकास में 'प्रतिबद्धता और असंतोष' के द्वंद्व और दबाव के असर को गहराई से खोजा जा सकता है। इस खोज से न सिर्फ हिंदी साहित्य की सामान्य साहित्यिक आलोचना को बल्कि हिंदी साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि को भी दिशा मिल सकती है।

ii. जीवन की बहुत सारी जटिलताएँ नागार्जुन की कविताओं में सहज, अविकल और लगभग समग्र रूप में आती हैं। सहज और अविकल रूप में इन जटिलताओं के नागार्जुन की कविताओं में आ जाने से नागार्जुन की कविताएँ ऊपर से सरल प्रतीत होती हैं जबकि उनका भीतरी बनाव बहुत जटिल होता है। अभिधेयार्थ को कभी खंडित नहीं करना ही व्यंग्यार्थ की बुनियाद में निहित ताकत होती है। नागार्जुन व्यंग्यार्थ या व्यंजना के कवि हैं। ऐसा होना तभी संभव है जब उनका अभिधेयार्थ अखंडित हो। अभिधेयार्थ से ही सीमित और संतुष्ट हो जाने पर नागार्जुन की कविताएँ सरल प्रतीत होती हैं। अभिधेयार्थ को साथ लेकर व्यंग्यार्थ या वस्तु-सत्य को साथ लेकर भाव-सत्य की ओर बढ़ने पर नागार्जुन की कविताओं की आंतरिक जटिलताएँ मुखर होकर सामने आने लगती हैं। नागार्जुन की कविताओं में आकर कुछ जटिलताएँ सुलझती हुई प्रतीत होती हैं तो जीवन के उलझावों से कुछ नई जटिलताएँ बनती हुई भी प्रतीत होती हैं। वृहत्तर अर्थ में राजनीति इनका प्रमुख प्रसंग रचती है और जननीति इनके प्रसार और स्वीकार का प्रसन्न प्रावधान। समय की राजनीति और नागार्जुन की जननीति के रचाव को खोलने या 'डि-कोड' करने से नागार्जुन की कविताओं के प्रसार का विन्यास समझ में आने लगता है। इसी तरह

नागार्जुन की कविता को खोलने या 'डि-कोड' करने की कोशिश से भारतीय राजनीति में निहित स्वतंत्रता के उत्तर का कृष्ण-पक्ष सामने आने लगता है और यह कृष्ण-पक्ष, शुक्ल-पक्ष की तुलना में बहुत ही बड़ा है। शायद इसलिए भी डॉ. नामवर सिंह नागार्जुन को 'सच्चे अर्थों में स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि जनकवि'[3] कहते हैं।

जन के जीवन में अंधकार की गाढ़ी छाया का घेरा लगातार बढ़ता ही गया। ऐसे में, स्वाभाविक ही है कि जनकवि की कविता में राजनीति के कृष्ण-पक्ष का ब्यास भी बड़ा होता गया है। सीधे शाश्वत और कालजयी-कालातीत साहित्य सर्जकों को यह समझ में न आये लेकिन नागार्जुन समझते हैं कि जिस प्रकार अभिधेयार्थ को छोड़े बिना ही व्यंग्यार्थ को पाना संभव होता है उसी प्रकार तत्काल को छोड़े बिना ही कालातीत होना संभव होता है। इस अर्थ में नागार्जुन कालातीत तत्काल के अद्‌भुत कवि के रूप में हमें हासिल होते हैं। इस व्यंग्य-बोध को लक्षित कर डॉ. नामवर सिंह ठीक ही कहते हैं, 'व्यंग्य की इस विदग्धता ने ही नागार्जुन की अनेक तात्कालिक कविताओं को कालजयी बना दिया है, जिसके कारण वे कभी बासी नहीं हुईं और अब भी तात्कालिक बनी हुई हैं। अन्य कवियों की तात्कालिक कविताओं से नागार्जुन की तथाकथित तात्कालिक कविताओं का यही अंतर है। इसलिए यह निर्विवाद है कि कबीर के बाद हिंदी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ।'[4] कहना न होगा कि कालातीत तत्काल का यह वैभव नागार्जुन के व्यंग्य-बोध से भी ऊपजता है और काल-बोध से भी। सीधे शाश्वत-सत्य से साक्षात्कार करनेवाले कवि भी कम नहीं हैं। ऐसे कवियों का शाश्वत-सत्य बहुधा तत्काल की परिधि को भी ठीक से पार नहीं कर पाता है, जबकि नागार्जुन का तात्कालिक-सत्य कहीं अधिक शाश्वत बन जाता है। नागार्जुन को मालूम था कि कवि चिंता और चिंतन का सत्य शाश्वत होना चाहिए। लेकिन वे साधारण कवि की तरह सीधे शाश्वत से संवाद स्थापित नहीं करते हैं क्योंकि क्षणिक तथ्य को अवहेलित कर शाश्वत के सीमांत को भी छू पाना असंभव मानते हैं : 'कवि हूँ, सच है/ किंतु क्षणिक तथ्यों को अवहेलित करके/ शाश्वत का सीमांत कभी क्या छू पाऊँगा ?'[5] प्रसंगवश, 'काल' के साथ हिंदी कविता के नागार्जुन का यह बरताव 'देश' के संदर्भ में भी जारी रहता है। इसीलिए नागार्जुन समाज, जाति और राष्ट्र से जुड़े रहकर ही किसी भी वैश्विक-बोध से तदाकार होते हैं। जैसे वे सीधे शाश्वत से संवाद नहीं करते हैं, वैसे ही सीधे विश्व-मानव भी नहीं हो जाते हैं। शंभुनाथ ठीक कहते हैं कि 'कवि की चिंता-भावना की परिधि कभी भी किसी खास देश-प्रदेश तक सीमित नहीं हो सकती। कवि की संवेदना का मुख्य वैश्विक जरूर होता है, पर उसका पहला जुड़ाव स्थानीय संवेदनाओं और आकांक्षाओं से होना चाहिए। यदि कवि अपने समाज को कविता के हाशिए से बाहर रखेगा, समाज भी उसकी कविता को हाशिए से बाहर फेंक देगा। इसलिए हिंदी कविता के सामने मुख्य चुनौती है कि वह विश्व-बिरादरी का मोह छोड़ दे, वह अपने जातीय समाज में लौटे-- इसकी दहकती चुप्पियों और मुखरताओं में झाँके !'[6]

नागार्जुन की कविता हिंदी कविता की इस चुनौती को समझती है और हिंदी समाज की दहकती हुई चुप्पियों और मुखरताओं से सामाजिक स्तर पर एकात्मीयता हासिल करती है। आजादी मिलने के बाद भी बहुसंख्यक भारतीय, खासकर हिंदी समाज के लोग, आजादी और राष्ट्रीयता का सही मर्म क्यों नहीं समझ पाये? चेताया नहीं था प्रेमचंद ने कि 'जॉन' की जगह 'गोबिंद' का बैठना आजादी नहीं है! यह नागार्जुन का सिर्फ आत्मालाप ही नहीं है, 'दुनिया हमसे पूछती है:/ तो अब तुम भीख क्यों माँगते हो?/ क्यों तुमने कोटि-कोटि जनों को 'अछूत' बना रखा है?/ एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को अपने चौके में क्यों घुसने नहीं देता?/ भंगी क्यों नहीं डोम का छुआ पानी पीता है?/ पूर्वजों के पुण्य का तुम्हारा जादू कहाँ चला गया?/ दुनिया हमसे पूछती है// दुनिया हमसे पूछती है:/ बहुसंख्यक भारतीयों को क्यों नहीं मालूम है/ आजादी और राष्ट्रीयता का मतलब'[7]। राष्ट्रवाद के 'वाद' को 'प्रेम' और फिर 'प्रेम' को 'भक्ति' में बदलने के लिए

आतुर लोगों की लंबी परंपरा है। उनकी आतुरता को समझने के लिए ‘वाद’, ‘प्रेम’ और ‘भक्ति’ के अंतर को समझना चाहिए। भक्ति वस्तुत: धर्म क्षेत्र की अंतरंग परिधि के बाहर की घटना है। धर्म के रहते अगर भक्ति की जरूरत आ पड़ी तो इसके अपने सामाजिक कारण भी थे। भक्ति धर्म का विस्तार नहीं बल्कि धर्म का तत्त्वांतरण है। जब तत्त्व ही बदल जाये तो मूल के बदलने में बाकी ही क्या रहता है। भक्ति ने धर्म को बदलकर रख दिया। यह दीगर बात है कि पुरोहितवाद के कुचक्र के कारण भक्ति के ढाँचे में धर्म प्रवेश कर गया। भक्ति धर्म का नया चमकदार पोशाक बनकर रह गई और धर्म पूर्ववत पुरोहितवाद का कवच-कटार बना रहा। जिस प्रकार कबीर की ‘भक्ति’ तुलसी के बाद बदल गई उसी प्रकार 1857 का राष्ट्रवाद 1876 के ‘ड्रामेटिक परफार्मेंसेज एक्ट’ और उसके तुरंत बाद आये बंकिमचंद्र के उपन्यास ‘आनंदमठ’ के बाद पूरी तरह बदल गया। यहीं से ‘राष्ट्रभक्ति’ ‘राष्ट्रवाद’ का स्थानापन्न बनने लगी--- वाद के चुपके से भक्ति में बदल जाने को गंभीरता से पढ़ा जाना चाहिए। यह प्रक्रिया आज भी जारी है। ‘राष्ट्रवाद’ को ’राष्ट्रभक्ति’ से समेकित कर देने और ‘भक्ति’ के अंदर ‘पुरोहितवाद’ के संस्थापन से राष्ट्रवाद के अंदर धर्म का ऐसा विषप्रभाव सक्रिय हुआ कि ‘मनुखों का देश, धर्मों के देश बन गये।’[8] समय पीछे की ओर नहीं लौटता है। लेकिन वाद के चुपके से भक्ति में बदल जाने के कारण ‘रामराज’ से बहुत आगे पहुँच चुकी भारतीय दुनिया के राष्ट्रवाद को पुन: पुरोहितवाद के खूँटे से बाँधने का इंतजाम हो गया। हमारे आजादी के आंदोलन में निश्चय ही ऐसे तत्त्व भी सक्रिय थे जो बाहरी उपनिवेश से मुक्ति के संघर्ष के दौरान स्वाभाविक तौर पर अर्जित लोकप्रियता का इस्तेमाल आंतरिक उपनिवेश के बंधन को नये सिरे से मजबूत बनाये जाने में कर रहे थे या अपनी अर्जित लोकप्रियता का ऐसा अंतर्घाती इस्तेमाल होने दे रहे थे। हमारे इतिहास की बिडंबना ही है कि आजादी के आंदोलन के महापाठ में गुलामी का निहितार्थ भी शामिल मिलता है। स्वाभाविक तौर पर बहुसंख्यक भारतीयों को आजादी और राष्ट्रीयता का वास्तविक मतलब मालूम ही नहीं है।

नागार्जुन का कालातीत तत्काल सिर्फ व्यंग्य-बोध की ही उपज नहीं है। नागार्जुन के व्यंग्य-बोध में जीवन-बोध के साथ-साथ और भी बहुत कुछ शामिल है; क्वचितअन्योपि। डॉ. नामवर सिंह यह भी ध्यान दिलाते हैं, ‘तुलसीदास और निराला के बाद कविता में हिंदी भाषा की विविधता और समृद्धि का ऐसा सर्जनात्मक संयोग नागार्जुन में ही दिखायी पड़ता है।’[9] और खुद नागार्जुन कहते हैं, ‘कबीर से मैंने दो-टूक अक्खड़पन लिया और निराला से स्वाभिमान का संस्कार।’[10] तुलसीदास से क्या लिया! वस्तुत: समस्त भारतीय वाङमय में जो कुछ भी सकारात्मक एवं सहयोजी सामाजिक, जातीय, राष्ट्रीय और वैश्विक तत्त्व उपलब्ध हैं, संभवत: उन सबके बीच की बहुस्तरीय अंतर्क्रियाओं से निष्पन्न सार का नवीकृत संश्लेष नागार्जुन की कविता में समाहित है। यही संश्लेष अंतत: और अनिवार्यत: नागार्जुन को मार्क्सवाद की ओर प्रेरित करता है। नागार्जुन का मार्क्सवाद इस संश्लेष के साथ सहयोजित होकर राष्ट्रीय विकास की ऐतिहासिक रेखाओं को तलाशता हुआ जीवन-चेतना की संपूर्ण करुणाई के साथ मिलकर एक अनिवार्य आकुल अभिप्रेरणा बन जाता है। निश्चय ही इस अकुलाहट के राजनीतिक आशय हैं। इस अकुलाहट को देखकर कई बार गैर-मार्क्सवादी आनंद के अतिरेक में पहुँच जाते हैं और मार्क्सवादी दुख और अफसोस के अतिरेक में। इन अतिरेकों से बचे बिना नागार्जुन को नहीं समझा जा सकता है। शंभुनाथ ने लक्षित किया है, ‘मार्क्सवाद दुनिया के इतने समाजों में उथल-पुथल पैदा कर सका और भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाली जातियों की सामाजिक चेतना में करवट ला सका, क्योंकि वह मार्क्स के विचारों तक सीमित नहीं था। वह जिस समाज की राष्ट्रीय परंपराओं और विकासशील यथार्थों के साथ जितनी अर्थपूर्ण अंतर्क्रिया स्थापित कर सका, जिस समाज के लोगों की आकांक्षाओं से जितना जुड़ सका, उसका स्थानीय परंपराओं और परिस्थितियों के अनुसार जितना रचनात्मक विनियोग हो सका, उस समाज में वह उतना सफल हुआ।’[11]

नागार्जुन की सर्जनात्मक चेतना में यह समझ पूरी सतर्कता से अंतःसक्रिय मिलती है कि हिंदी समाज एवं विभिन्न जातीयताओं के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीयता के सकारात्मक एवं जीवंत तत्त्वों को अवहेलित किये बिना किये जानेवाले रचनात्मक विनियोग से ही मार्क्सवाद की वैश्विक व्याप्ति और उपयोगिता संभव है। दुखद ही है कि हिंदी समाज में मार्क्सवाद का यह रचनात्मक विनियोग बहुत नहीं हो पाया। हम देख सकते हैं कि जिन समाजों में यह रचनात्मक विनियोग सफलतापूर्वक हुआ उन समाजों की चेतना में उतनी ही नई स्फूर्ति भी आई और उसका कुछ-न-कुछ राजनीतिक फलितार्थ भी सामने आया।

2. राजनीतिक चेतना का सर्जनात्मक प्रतिफलन

कलात्मक अनुभव और राजनीतिक अनुभव मिलकर नागार्जुन की कविता में जीवन की प्रेरणा बनते हैं। मुक्तिबोध बताते हैं, ‘यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनीतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है? बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो छद्मजाल न हो।’[12] कहना न होगा कि नागार्जुन की कविताओं में ‘सच्ची वास्तविक अनुभूति’ है, ‘छद्मजाल’ नहीं। नागार्जुन केवल साहित्य की दुनिया में रहनेवाले कवि नहीं थे। वास्तविक दुनिया में रहते थे। साहित्य से प्राप्त अनुभूति को फैलाकर अपना काव्य-वितान नहीं तैयार करते थे बल्कि जिंदगी के पद-चाप को ध्यान से सुनते और गुनते थे, कभी-कभी सिर भी धुनते थे। इसी सुनने, गुनने और धुनने में उनकी कविताएँ आकार पाती थीं। वास्तविक दुनिया के कठोर यथार्थ और कोलाहल कलह से बाहर कल्पना के कोमल और संगीतमय संसार में रहनेवाले साहित्यिकों को ही लक्षित कर मुक्तिबोध ने कहा होगा, ‘हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।’[13] हम सलाखों पर चिरकाल तक भाल टिकाकर सोचनेवाले नागार्जुन की कविताओं पर भरोसा कर सकते हैं क्योंकि नागार्जुन साहित्यिक दुनिया से बाहर उस वास्तविक भारतीय दुनिया में रहते थे जहाँ एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, तेरह के तेरह अभागे अकिंचन मनुपुत्र जिंदा झोंक दिए जाते हैं प्रचंड अग्नि की विकराल लपटों में साधन-संपन्न ऊँची जातियोंवाले सौ-सौ मनुपुत्रों द्वारा[14]! और वर्ग सत्य? बस मुँह ताकता रह जाता है! नागार्जुन न सिर्फ इस दुनिया में रहते थे बल्कि इस दुनिया के दर्द को सहते भी थे। नागार्जुन की कविता में राजनीतिक चेतना के सर्जनात्मक प्रतिफलन का गहरा जुड़ाव दर्द सहने के संदर्भ से है। यह जुड़ाव ही है जो गहरे सोच में डाल देता है कि न जाने किसकी गलेगी दाल; ‘इन सलाखों से टिकाकर भाल / सोचता ही रहूँगा चिरकाल / और भी तो पकेंगे कुछ बाल / जाने किसकी / जाने किसकी / और भी तो गलेगी कुछ दाल’[15]

नागार्जुन की कविता में राजनीतिक चेतना के सर्जनात्मक प्रतिफलन पर बात करने के लिए जरूरी है कि राजनीतिक चेतना के आशय और आयाम पर भी गहराई से विचार किया जाए। इसी क्रम में, यह भी जरूरी ही होगा कि सर्जनात्मक प्रतिफलन के सांस्कृतिक निहितार्थ को भी थोड़ा साफ करते हुए आगे बढ़ा जाये। हालांकि स्वयं-प्रबुद्ध पाठकों के लिए इसका कोई औचित्य नहीं है, फिर भी ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं कि बहुत सारे पाठकों के लिए इसका औचित्य हो सकता है। मनुष्य समाज में रहता है। समाज के गठन और संचलन की प्रक्रिया सदैव जारी रहती है। गठन और संचलन की इसी पक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण आयाम राजनीति है। यह ठीक है कि राजनीति मूलतः सत्ता-विमर्श है लेकिन भूलना न होगा कि राजनीति समाज-विमर्श भी है। इसी तरह साहित्य मूलतः आनंद-बोध है। आनंद के फूल? फिर चाहे वह तथाकथित ब्रह्मानंद का सहोदर ही क्यों न हो, जीवन के सामाजिक गाछ में ही

खिलते हैं। जीवन समाज में रहकर ही संभव हो पाता है। जीवन से साहित्य के गहरे जुड़ाव का यही वह संयोग-बिंदु है जहाँ राजनीति का मूल सत्ता-विमर्श साहित्य के मूल आनंद-बोध से जुड़ता है।

सत्ता के सूत्र और आनंद के गुण मिलकर जीवन के जिस गुणसूत्र की रचना करते हैं उसके प्रतिफलन का ढाँचा राजनीतिक होता है और अंतर्वस्तु सांस्कृतिक होती है। इस ढाँचा में निहित अंतर्वस्तु सामाजिक और वैयक्तिक जीवन का सार रचते हैं। जाहिर है, साहित्य और संस्कृति के राजनीतिक सरोकारों को जरा भिन्न नजरिये से देखने की जरूरत है। यह इसलिए भी कि ये सरोकार एक-स्तरीय और एक-अर्थी नहीं होते हैं। नागार्जुन की राजनीतिक चेतना को न तो सिर्फ दलीय निष्ठा के आधार पर समझा जा सकता है और न दार्शनिक अभिलाषा के स्तर पर ही। इसका तात्पर्य यही नहीं कि वे दल के महत्त्व को मानते ही नहीं थे या किसी दार्शनिक अभिलाषा से उनका किसी प्रकार का जुड़ाव ही नहीं था। बल्कि, सच्ची बात तो यह है कि नितांत भारतीय अर्थों में सच्चे मार्क्सवादी थे। तात्पर्य यह कि भारतीय संस्कृति में मार्क्सवाद से परिचय के पहले से सक्रिय ऐतिहासिक भौतिकवादी विचार की द्वंद्वात्मकता के सकारात्मक पहलू को समेटते हुए अपनी जीवन-पद्धति, चिंतन-प्रकृति, और रचना-प्रक्रिया में मार्क्सवादी थे। इस बात को ध्यान में रखना नागार्जुन को समझने की पूर्व-शर्त्त है। नागार्जुन दल के महत्त्व को भी जानते थे और गोल के महत्त्व को भी पहचानते थे। पहचानते थे, इसलिए इनके बावजूद, वे इन से सीमित नहीं थे। अद्‌भुत यह कि सीमित नहीं होना उन्हें निर्बंध नहीं बनाता था। उन्हीं के शब्दों में, 'सलिल को सुधा बनाएँ तटबंध/ धरा को मुदित करें नियंत्रित नदियाँ/ तो फिर मैं ही रहूँ निर्बंध!/ मैं ही रहूँ अनियंत्रित!/ यह कैसे होगा?/ यह क्योंकर होगा?// भौतिक भोगमात्र सुलभ हों भूरि-भूरि,/ विवेक हो कुंठित!/ तन हो कनकाभ, मन हो तिमिरावृत्त!/ कमलपत्री नेत्र हों बाहर-बाहर,/ भीतर की आँखें निपट-निमीलित!/ यह कैसे होगा?/ यह क्योंकर होगा ?'[16] वैचारिक नियंत्रण और बंधन के महत्त्व को तो वे जानते ही थे, विवेक को अकुंठित रखने की चुनौती को भी खूब समझते थे। वे वैचारिक नियंत्रण और बंधन की पगबाधाओं को ही नहीं इन पगबाधाओं को पार करने की विद्या भी खूब जानते थे। इसलिए दिमागी गुलामी से मुक्त रहकर प्रतिबद्ध, आबद्ध और संबद्ध होने की कला में पारंगत थे। साधारण साहित्यिकों की तरह प्रतिबद्ध होना उनके कंधे पर लदा बैताल नहीं था, उनकी सांस्कृतिक यात्रा के पाथेय का जुगाड़ था। तभी तो कह सकते थे, 'प्रतिबद्ध हूँ/ संबद्ध हूँ/ आबद्ध हूँ // प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ---/ बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त--/ संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेघार्थ..../ अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया-धसान' के खिलाफ.../ अंध-बधिर 'व्यक्तियों को सही राह बतलाने के लिए.../ अपने आप को भी 'व्यामोह' से बारंबार उबारने की खातिर.../ प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ!// संबद्ध हूँ, जी हाँ, संबद्ध हूँ---/ सचर-अचर दृष्टि से.../ शीत से, ताप से, धूप से, ओस से, हिमपात से.... / राग से, द्वेष से, क्रोध से, घृणा से, हर्ष से, शोक से, उमंग से, आक्रोश से/ निश्चय-अनिश्चय से संशय-भ्रम से, क्रम से, व्यतिक्रम से..../ ....//.../ आबद्ध हूँ, जी हाँ आबद्ध हूँ--/ स्वजन-परिजन के प्यार की डोर में.../ प्रियजन की पलकों की कोर में..../ सपनीली रातों की भोर में.../ बहुरूपा कल्पना रानी के आलिंगन-पाश में.../ तीसरी-चौथी पीढ़ियों के दंतुरित शिशु सुलभ हास में.../ लाख-लाख मुखड़ों के तरुण हुलास में.../ आबद्ध हूँ, जी हाँ शतधा आबद्ध हूँ!'[17]

'मानसिक गुलामी' के स्वीकार को 'भौतिक आजादी' की शर्त्त बनाये जाने के खिलाफ निरंतर संघर्षशील रहना साहित्य का मुख्य सरोकार है। सत्ता जानती है कि मानसिक गुलामी किसी भी प्रकार और रंग-रूप की आजादी को बाँझ बनाती है। हर प्रकार की सत्ता अपने अधीनस्थों को 'मानसिक गुलामी' में डालती है। साहित्य जानता है कि मानसिक आजादी किसी भी प्रकार और रंग-रूप की आजादी की पूर्व शर्त्त है। किसी भी प्रकार की सत्ता से साहित्य के संबंध और संघात का आधार मुख्यतः

इसी परिप्रेक्ष्य से विकसित होता रहता है। जब भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अपनी सफलता के राजनीतिक उत्कर्ष पर था उसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध के उत्ताप से एक नई प्रकार की वैश्विक उच्छृँखलताओं का भी वातावरण बन रहा था। स्वाधीनता और उच्छृँखलता के बीच की विभाजक रेखा के मिट जाने का खतरा भी पैदा हो गया था। इस डर के कारण विश्व के शासक-समुदाय में कहीं-न-कहीं जनतंत्र के ताम-झाम के अंदर 'भौतिक आजादी' देने और अनुशासन के नाम पर 'मानसिक गुलामी' को बनाये रखने की भावना भी सक्रिय थी। हमारा जनतंत्र भी इसका अपवाद नहीं रहा है। नागार्जुन की कविता में 'भौतिक आजादी' देने और 'मानसिक गुलामी' बनाने के व्याघाती द्वंद्व से उत्पन्न दर्द एक हूक की तरह उठता है, 'दुनिया-भर को पंचशील का पाठ पढ़ाओ/ आइजनहावर के माथे पर मलो रात-दिन/ सत्य-अहिंसा की बातों का बादामी गुलरोगन/ हमें पिलाओ अनुशासन की बासी खट्टी छाछ/ बात-बात पे हंटर मारो/ कदम-कदम पे छोड़ो आँसू गैस/ अदना-अदना-सी बातों की खातिर भड़को/ गोली मारो/ खून बहाओ'[18] ध्यान में होना ही चाहिए कि शासक-समुदाय की भावनाओं और विचारधाराओं का फैलाव धीरे-धीरे समाज के विभिन्न स्तरों तक सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में होता जाता है। इसमें पिसता है आम आदमी। आज भी शासन की मुख्य परियोजना 'दिमागी गुलामी' को बनाये रखने की ही है। अनुशासन के नाम पर शासन 'दिमाग दखल' का ही इंतजाम करता है। शायद यही कारण है कि हिंदी क्षेत्र के दो महत्त्वपूर्ण रचनाकार राहुल सांकृत्यायन और नागार्जुन इस 'दिमागी गुलामी' से सावधान करते हैं। नागार्जुन कहते हैं, 'उच्छृँखलता और स्वाधीनता ये दो पृथक वस्तुएँ हैं। दुर्बल हृदय के लोग शंका करते हैं कि दिमागी आजादी मानसिक उच्छृँखलता का ही रूपांतर हो सकती है। ऐसे मनुष्य यह सोचते तक नहीं कि स्वतंत्रता की भावना एकांगी नहीं होनी चाहिए। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक अथवा अन्य कोई भी स्वाधीनता जिस प्रकार आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार हृदय और बुद्धि की स्वाधीनता आवश्यक है।'[19] इसलिए यह बात साफ होनी चाहिए कि आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक स्वाधीनता के साथ ही हृदय और बुद्धि की स्वाधीनता, अचार्य रमचंद्र शुक्ल के शब्द का उपयोग करें तो 'हृदय की मुक्तावस्था', के लिए भी संघर्ष करना लाजिमी है। 'दिमागी गुलामी' का लक्षण बताते हुए वे कहते हैं, 'जिस बात को आपका दिल कबूल करता है, जिसको आप ठीक मानते हैं, यदि उस पर आप अमल नहीं करते, यदि उसको अपने जीवन में नहीं उतारते तो यह आपकी दिमागी गुलामी है। दिमाग की यह गुलामी राजनैतिक गुलामी से ज्यादा खतरनाक है।'[20] आगे यह भी कहते हैं, 'जिस व्यक्ति अथवा समाज की बुद्धि अन्य व्यक्ति या समाज पर निर्भर हो, समझना चाहिए कि उसकी मनोवृत्ति पंगु हो गई है।'[21] और इससे मुक्ति के लिए वे कहते हैं, 'प्राचीन से प्राचीन धारणाएँ, बड़ी से बड़ी अनुश्रुतियाँ, वृद्ध से वृद्ध गुरुओं की आज्ञाएँ पहले स्वतंत्र बुद्धि की कसौटी पर कसी जानी चाहिए। अमुक ने ऐसा कहा है, अमुक पुस्तक में ऐसा लिखा है, इसलिए ऐसा करना चाहिए, इसीलिए मैं ऐसा करता हूँ, इसीलिए आप भी ऐसा कीजिए? ऐसा वे लोग कहा करते हैं जिनका दिमाग गुलाम है और जिनकी मनोवृत्ति पंगु है।'[22] हमारा अनुभव बताता है कि आजादी के समय से ही विभिन्न क्षेत्रों के छोटे-से शासक-समुदाय के लिए 'स्वाधीनता' में अंतर्निहित 'हृदय और बुद्धि की मुक्तावस्था' उच्छृँखलता का पर्याय बनती चली गई जबकि बहुत बड़ी आबादी के लिए 'स्वाधीनता' में अंतर्निहित 'अनुशासन और नियंत्रण' का कूट-तर्क वस्तुत: दिमागी गुलामी का आधार-तर्क बनता चला गया। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दौर में 'दिमाग दखल' का यह दुष्ट अभियान नये सिरे से पुष्ट हो रहा है। नागार्जुन इस बात को गंभीरता से संवेदना के स्तर पर न सिर्फ समझते हैं बल्कि सर्जनात्मक स्तर पर इसके सांस्कृतिक प्रतिफलन को संभव करने की भी कोशिश करते हैं।

3. निरन्न समाज में कविता

‘भूखे भजन न होई गोपाला’--- संतों ने अपने आराध्य को संबोधित करते हुए कहा। भजन ही क्यों? भूखे पेट तो कुछ भी नहीं किया जा सकता है। लेकिन बिना कुछ किये पेट भर ही कैसे सकता है! यही है दुश्चक्र--- भूखे पेट कुछ हो नहीं सकता और बिना कुछ किये पेट भर नहीं सकता! अन्न ही प्राण का आधार है। इसलिए, सबसे बड़ी विचारधारा अन्न है। अन्न ही ब्रह्म है। अन्न ही सत्य है। अन्न से ऊपर कुछ भी नहीं। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. अमर्त्य सेन ने अकाल पर कायदे से विचार किया है। उन्होंने अकाल के बारे में कई प्रचलित मान्यताओं और धारणाओं को प्रमाणपूर्वक खंडित किया है। वे जोर देकर कहते हैं: ‘आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के लिए अकालों की सृष्टि की प्रक्रिया को ठीक से समझना जरूरी है। यह केवल अनाजों की उपलब्धता और जनसंख्या के बीच किसी मशीनी संतुलन का मामला नहीं है। भूख के विश्लेषण में सबसे अधिक महत्त्व व्यक्ति या उसके परिवार की आवश्यक मात्रा में खाद्य भंडारों पर स्वत्वाधिकार स्थापना की स्वतंत्रता का है। यह दो प्रकार से संभव है: या तो किसानों की तरह स्वयं अनाज का उत्पादन करके या फिर बाजार से खरीदी द्वारा। आसपास प्रचूर मात्रा में अनाज उपलब्ध रहते हुए भी यदि किसी व्यक्ति की आय के स्रोत सूख जाएँ तो उसे भूखा रहना पड़ सकता है।... कुपोषण, भुखमरी और अकाल सारे अर्थतंत्र और समाज की कार्यपद्धति से भी प्रभावित होते हैं (केवल खाद्यान्न-उत्पादन और कृषि कार्यों का ही इन पर प्रभाव नहीं पड़ता)। आर्थिक-सामाजिक अंतर्निभरताओं के आज के विश्व में भुखमरी पर पड़ रहे प्रभावों को ठीक से समझना अत्यावश्यक हो गया है। खाद्य का वितरण किसी धर्मार्थ (मुफ्त में) अथवा प्रत्यक्ष स्वचालित विधि से नहीं होता। खाद्य सामग्री प्राप्त करने की क्षमता का उपार्जन करना पड़ता है।... खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धिता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।’[23] पूँजीवादी व्यवस्था खाद्य-असुरक्षा बनाये रखना चाहती है। क्यों? क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था स्वाधीन जीवन से डरती है। स्वाधीनता उर्ध्वमुखी समता की सहज मानवीय आकांक्षा की तीव्रतम क्रियाशीलता को दिशा देती है। इस दैशिक क्रियाशीलता की सुगठित अभिव्यक्ति और आत्यंतिक परिणति अपने सरोकार में राजनीतिक होती है। पूँजीवादी व्यवस्था इस परिणति से बहुत डरती है। इस डर के कारण ही पूँजीवादी व्यवस्था लोगों को दिमागी तौर पर गुलाम बनाये रखना चाहती है। पूँजीवादी व्यवस्था जानती है, ‘मनुष्य के कल्याण के लिए/ पहले उसे इतना भूखा रखो कि वह और कुछ/ सोच न पाए/ फिर उससे कहो कि तुम्हारी पहली जरूरत रोटी है/ जिसके लिए वह गुलाम होना भी मंजूर कर लेगा...’[24]। इस समझ के अनुरूप पूँजीवादी व्यवस्था दो तरफा कार्रवाई करती है। एक ओर यह खाद्य की उपलब्धता को नियंत्रित करती है तो दूसरी ओर आधिकारिकता, यानी लोगों की क्रय शक्ति, को भी न्यूनतम स्तर बनाये रखती है। अकारण नहीं है कि अमेरीका पूरी दुनिया के खाद्य-चक्र पर अपना निरंकुश नियंत्रण करने के लिए सदैव सचेष्ट रहता है।’ (अमेरीका के) राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने 18 जून (2001) को ह्वाइट हाउस में कृषि उत्पादों के व्यापार से जुड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रतिनिधयों को संबोधित करते हुए आश्वस्त किया कि ‘अमेरीकी सरकार कृषि व्यापार के सामने पूरी दुनिया में खड़े अवरोधकों को धक्का देकर गिराने के लिए कटिबद्ध है।... 1999 में अपने कुल कृषि उपज मूल्य 189.2 अरब डॉलर का 51 प्रतिशत यानी 96.5 अरब डॉलर सब्सिडी के रूप में दे रहा था।’[25]

निरंतर

खाद्य-असुरक्षा से जूझते हुए निरन्न समाज के जनकवि से बेहतर इस सत्य कौन समझ सकता है! नागार्जुन के लिए निरन्न-समाज का दर्द सहानुभूति से आयातित मामला ही नहीं है बल्कि स्वानुभूति में अंतर्निहित मामला भी है। इस स्वानुभूति के बल पर ही नागार्जुन कहते हैं, ‘अन्न ब्रह्म ही ब्रह्म है, बाकी ब्रह्म पिशाच/ औघड़ मैथिल नाग जी अर्जुन यही उवाच।।’[26] और यह ब्रह्म तो कैद है! ‘गोदामों में अन्न कैद है, पेट-पेट है खाली/ भूख-पिशाचिन बजा रही है, द्वार-द्वार पर थाली/ दो चाहे हिंसा की देवी को गाली पर गाली/ बलि पशुओं की ले रही है, खप्पर लेकर काली/ गोदामों में अन्न कैद है, पेट-पेट है खाली’। गोदामों में अन्न रखने की जगह नहीं होने की और भूख से मरने की खबर साथ-साथ आती है। भूख से मरने की खबर पर शासकीय वक्तव्य क्या हुआ करता है? मौत का कारण भूख नहीं कुपोषोण है! कुपोषण क्यों हुआ? व्यवस्था इस पचड़े में नहीं पड़ती। उसके लिए इतना ही काफी है कि कुपोषण बीमारी है। ’मरो भूख से, फौरन आ धमेगा थानेदार/ लिखवा लेगा घरवालों से--- ‘‘वह तो था बीमार’’/ अगर भूख की बातों से (तुम) कर न सके इनकार/ फिर तो खाएँगे घरवाले हाकिम की फटकार’[27]। न भूख से मरने के कारण नए हैं, न इस कलंक से व्यवस्था के पल्ला झाड़ने की तरकीब नई है! असल बात यह है कि यह सच जिस व्यवस्था से प्राण-रस पाता है, उस व्यवस्था के बने रहने तक यह सच कायम रहेगा। विख्यात कृषि-वैज्ञानिक और भारत में ‘हरित क्रांति’ के प्राणपुरुष डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन ने 29 दिसंबर 2000 को केरल कृषि विश्वविद्यालय, त्रिशूर के दीक्षांत समारोह में दिये गये अपने भाषण में 1994 के विश्व व्यापार समझौता को भारतीय कृषि के संदर्भ में ‘विषमता बढ़ानेवाला और अन्यायपूर्ण व्यपारिक चरित्रवाला’ बताया था। कृष्णकुमार से बात करते हुए कहा कि भारत के पास अन्न की कमी नहीं है। 45 मीलियन टन से अधिक गेहूँ और चावल हमारे गोदामों में है। 250 मीलियन बच्चे, स्त्री और पुरुष आधा पेट खाकर सोते हैं। उत्तर बिहार का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि पश्चिम बंगाल ओर असम की तरह प्रचूर जल संसाधन के होने और पूरे मध्य भारत की जरूरत भर का अन्न उत्पादित करने में सक्षम होने के बावजूद लापरवाह प्रशासन, जाति-संघर्षों ओर आधारभूत ढाँचों की दयनीय स्थिति के कारण वहाँ सब कुछ बेकार है। उन्होंने संपन्नता के बीच विपन्नता के विरोधाभास को तोड़ने और जीवन रक्षा के लिए जन वितरण प्रणाली के उपयोग की बात भी कही और भूमंडलीकरण के संदर्भ में खाद्य सुरक्षा के विभिन्न संदर्भों पर बात की।[28] डॉ. स्वामीनाथन का संदर्भ यहाँ इसलिए भी विशेषत: उल्लेखनीय है कि नागार्जुन का जन्म संपन्नता के बीच विपन्नता के विरोधाभास में फँसे, लापरवाह प्रशासन के साये में निरंतर जाति-संघर्षों से क्षत-विक्षत होते रहनेवाले आधा पेट खाकर सोनेवाले इसी उत्तर बिहार के मिथलांचल में हुआ था। आज स्वामीनाथन ठीक ही संकेत करते हैं, लेकिन नागार्जुन की कविता ने तो 1962 में ही फसल के संदर्भ में ‘पानी के जादू’ को रेखांकित कर दिया था; ‘फसल क्या है?// और तो कुछ नहीं है वह/ नदियों के पानी का जादू है वह/ हाथों के स्पर्श की महिमा है/ भूरी-काली-संदली मिट्टी का गुण-धर्म है/ रूपांतर है सूरज की किरणों का/ सिमटा हुआ संकोच है हवा की थिरकन का!’[29]

संपन्नता

के बीच विपन्नता के विरोधाभास को तोड़ने और जीवन रक्षा के लिए जन वितरण प्रणाली के उपयोग की बात स्वाभाविक तौर पर बार-बार होती है। लेकिन जनकवि की कविता के जनपद में जन वितरण प्रणाली के क्या हाल रहे हैं? नागार्जुन की कविता कहती है, ‘दो हजार मन गेहूँ आया दस गाँवों के नाम/ राधे चक्कर लगा काटने सुबह से हो गई शाम/... /नया तरीका अपनाया है राधे ने इस साल/ बैलोंवाले पोस्टर साटे, चमक उठी दीवाल/ नीचे से ऊपर तक समझ गया सब हाल/ सरकारी गल्ला चुपके से भेज रहा नेपाल/ अंदर टँगे पड़े हैं गाँधी-तिलक-जवाहरलाल’[30]! यह सब आजाद भारत

का हाल है! 1953 से लेकर अबतक का यही हाल है। क्यों? क्योंकि, व्यापक भूमि सुधार हुआ नहीं और ‘अन्न चाँपकर बैठ गए सारे भू-स्वामी/ साँप-सेज पर बेसुध लेटा अंतर्यामी/ निठुर बनो बिल पर बिल खोदो, अन्न निकालो/ शस्य-शत्रु की बातों पर तुम कान न डालो!/..../ सहज सुकोमल दुग्ध धवल है, देखो खादी! /छूकर सूँघो, महकेगी असली आजादी/ दिव्य रूप है इनको तुम पहचान सकोगे?/ जादूगर हैं, इनका सुयश बखान सकोगे?/ .../ धन-पिशाच की चक्र-चेतना घूम रही है!/ शासन की गति किस पीनक में झूम रही है? / क्रियाहीन चिंतन का कैसा चमत्कार है!/ दस प्रतिशत आलोक और बस अंधकार है!’[31] उदारीकरण-निजीकरण-मंडलीकरण के इस दौर में आलोक और अंधकार का यह अनुपात आज भी कायम है।

व्यापक भूमि सुधार के बदले चला विनोबाजी का भू-दान आंदोलन! इस भू-दान आंदोलन के चरित्र को पढ़ने में आज की हिंदी कविता की शायद ही कोई रूचि हो। लेकिन किसान आंदोलन की जमीन से जुड़े नागार्जुन ने तो इसे तभी समझ लिया था। ’बाँझ गाय बाभन को दान हर गंगे/ मन ही मन खुश है जजमान हर गंगे/ ऊसर बंजर और श्मशान हर गंगे/ संत विनोबा पावैं दान हर गंगे// ...// जान बूझकर बनैं नदान हरगंगे/ बड़े चतुर हैं संत महान हर गंगे’[32]। यह भी कि ‘बापू के भी ताऊ निकले तीनों बंदर बापू के/ सरल सूत्र उलझाऊ निकले तीनों बंदर बापू के/ सचमुच जीवनदानी निकले तीनों बंदर बापू के/ ज्ञानी निकले, ध्यानी निकले तीनों बंदर बापू के/ जल-थल-गगन-विहारी निकले तीनों बंदर बापू के/ लीला के गिरधारी निकले तीनों बंदर बापू के// सर्वोदय के नटवरलाल/ फैला दुनिया-भर में जाल/ अभी जिएँगे ये सौ साल/ ढाई घर घोड़े की चाल/ मत पूछो तुम इनका हाल/ सर्वोदय के नटवरलाल!’[33] अमर्त्य सेन परम गरीबी से मुक्ति के लिए बार-बार शिक्षा के महत्त्व की बात करते हैं। लेकिन शिक्षा कैसे हो जब स्थिति यह हो: ‘खर्चा के डर से बच्चों को कुछ भी नहीं पढ़ाते हैं/ चाँदी तो क्या, टलहा तक की औंठी नहीं गढ़ाते हैं/ परब-तीज-त्यौहार नहीं तंगी के कारण भाते हैं/ तबियत बहलाने के खातिर तुलसी के पद गाते हैं//... // सुजला-सुफला शस्य-श्यामला माँ के गुन तब गाएँगे/ संत विनोबा को दर-दर का धूरा नहीं चटाएँगे’[34] हाँ, तुलसी के पद गाते हैं! और यही तो चाहते थे समय के प्रभु! नतीजा हमारे सामने है। बाबा तुलसी की अंगुली पकड़कर हमारे समय में जो तांडब आज चल रहा है वह क्या बिल्कुल अनाशंकित था!

नागार्जुन कहते हैं, ‘रामचरितमानस हमारी जनता के लिए क्या नहीं है? सभी कुछ है! दकियानूसी का दस्तावेज है... नियतिवाद की नैया है... जातिवाद की जुगाली है। शामंतशाही की शहनाई है! ब्राह्मणवाद के लिए वातानुकूलित विश्रामागार... पौराणिकता का पूजा-मंडप... वह क्या नहीं है! सब कुछ है, बहुत कुछ है! रामचरितमानस की बदौलत ही उत्तर भारत की लोकचेतना सही तौर पर स्पंदित नहीं होती। ‘रामचरितमानस’ की महिमा ही जनसंघ के लिए सबसे बड़ा भरोसा होती है हिंदी भाषी प्रदेशों में।’[35] सच है, ‘पिछड़ी जातियों में पैदा होकर भी सौ किस्म की मजबूरियाँ झेलेनेवाले साठ प्रतिशत इन्सान तब तक सही अर्थों में ‘स्वतंत्र और स्वाभिमानी’ भारतीय नहीं होंगे, जब तक ‘रामचरितमानस’ सरीखे पौराणिक संविधान ग्रंथ की कृपा से प्रभु जातीय गुलामी का पट्टा उनके गले में झूलता रहेगा।’[36] जब तक ’स्वतंत्र और स्वाभिमानी’ नहीं होंगे तब तक वर्णवादी व्यवस्था का दंश पूरे समाज को विषाक्त बनाता रहेगा। वर्णवादी व्यवस्था के कायम रहने के कारणों की ओर संकेत करते हुए प्रोफेसर तुलसी राम ठीक कहते हैं, ‘ब्राह्मणवादी जो व्यवस्था है या ब्राह्मणवाद जिसे कहा जाता है उसको माननेवाली तो गैर ब्राह्मण जातियाँ हैं, जिनमें दलित भी शामिल हैं। गैर ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणवाद को कैसे मानती हैं? दलित भी पूजा उसी देवता की करता है जिस देवता की ब्राह्मण पूजा करता है। वही कर्मकांड जो ब्राह्मण करता है वही दलित भी करता है। वही रामकथा

ब्राह्मण सुनता है वही रामकथा दलित सुनता है। वही दुर्गापूजा ब्राह्मण करेगा, ठाकुर भी करेगा, बनिया भी करेगा, वही शूद्र भी करेगा दलित भी करेगा। सब करेंगे। तो आप उसके खत्म होने की बात कहाँ से करते हैं।'[37] नागार्जुन कहते हैं, 'जी हाँ, अपने इस विशाल क्षेत्र (हिंदी भाषी भू-खंड) के अंदर जितने 'काक' हैं सभी 'पिक' हो जाएँगे, 'बक' तो फिर 'मराल' हो के रहेंगे। उधर अपने समाज का बहुजन-वर्ग 'बेबसी और जहालत के समंदर में' इसी तरह डूबता-उतराता रहेगा... महँगाई इसी तरह बढ़ती रहेगी। पुलिसवाले इसी तरह प्रदर्शनकारियों पर लाठियाँ बरसाते रहेंगे। कथावचकों की बिरादरी हलवा-पूड़ी और खीर का भोग लगाकर फूलती रहेगी। 'भंडोच' तो अभागे अलग ही खड़े रहेंगे...! ये कौन हैं भाई? भंडोच! जी हाँ, नया शब्द गढ़ लिया है हमने अपनी सुविधा के लिए...। 'भंडोच' यानी भंगी, डोम, चमार। समझ गए अब तो?'[38] 'सर्वमंगला शांति' के महत्त्व को नागार्जुन खूब समझते थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'लोकमंगल' की शांति से नागार्जुन की 'सर्वमंगला शांति' के अंतर को भी ध्यान में रखना ही होगा। ध्यान में यह भी रखना चाहिए कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तुलना में नागार्जुन को सभ्यता विकास के अगले पायदान पर होने की सुविधा प्राप्त थी। यह सिर्फ काल-क्रम की ही बात नहीं है। बहुत सारे लोग तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल से बहुत पहले के समय के पायदान पर ही आज भी घोलटनिया खा रहे हैं! नागार्जुन साहस के साथ कहते हैं, 'निविड़ अविद्या से मन मूर्छित/ तन जर्जर हैं भूख-प्यास से/ व्यक्ति-व्यक्ति दुख-दैन्यग्रस्त है/ दुविधा में समुदाय पस्त है/ लो मशाल अब घर-घर को आलोकित कर दो/ सेतु बनो प्रज्ञा-प्रयत्न के मध्य/ शांति को सर्वमंगला हो जाने दो/ खुश होंगे हम --/ इन निर्बल बाँहों का यदि उपहास तुम्हारा/ क्षणिक मनोरंजन करता हो/ खुश होंगे हम!'[39] सच है कि निरन्न जीवन में अन्न के आने से घर भर की आँखें चमक उठती हैं: 'दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद/ धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद/ चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद/ कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद'[40]। 'सुजलां-सुफलां' का गहन राजनीतिक आशय किसी राजनेता की चेतना में नहीं, बल्कि कवि के मानस में ही दमकी थी। बदली हुई परिस्थिति में 'घर भर की आँखों में उठी चमक' को बनाये रखने के लिए गहन राजनीतिक आशय के बावजूद कवि के ही मानस में यह संकल्प भी उभरता है: 'झूठ-मूठ के सुजला-सुफला के गीत न अब हम गाएँगे,/ दाल-भात-तरकारी जब तक नहीं पेट-भर खाएँगे/.... / होशियार कुछ देर नहीं है लाल सबेरा आने में,/ लाल भवानी प्रकट हुई है सुना कि तैलंगाने में!/ कागज की आजादी मिलती ले लो दो-दो आने में,/ लाल भवानी प्रकट हुई हैं सुना कि तैलंगाने में!/... / सड़ी-गली नौकरशाही से पहले ही ऊबे थे हम,/ इधर 'स्वराज' मिला है, तब से दूर हो गया सभी भरम;/ नेता परेशान हैं जनता का तूफान दबाने में,/ लाल भवानी प्रकट हुई हैं सुना कि तैलंगाने में!/ नौकरशाही का यह रद्दी ढाँचा होगा चूरम-चूर,/ सुजला, सुफला के गाएँगे गीत प्रसन्न किसान-मजूर;/ इन कानों को तृप्ति मिलेगी, तब उस मस्त तराने में,/ लाल भवानी प्रकट हुई हैं सुना कि तैलंगाने में!'[41] कागज की आजादी तो दो-दो आने में मिलती है, इसलिए लगभग बीस वर्ष बाद रघुबीर सहाय भी पूछते हैं, 'राष्ट्रगीत में भला कौन वह/ भारत -भाग्य -विधाता है/ फटा सुथन्ना पहने जिसका/ गुन हरचरना गाता है...'।[42] इससे नागार्जुन के 'सुजला, सुफला' के गीत नहीं गाने के संकल्प को और बल मिलता है। 'वंदे मातरम' को गाने से इनकार को सांप्रदायिकता के प्रसार में लगानेवालों से सावधान रहते हुए नागार्जुन की कविता में 'सुजला, सुफला' को गाने से इनकार में छिपे दर्द के नये आयाम की तलाश जरूरी है।

vii. नागार्जुन का संकल्प और रघुबीर सहाय का सवाल आज भी अर्थवान है। कितनी बड़ी बिडंबना है कि हमारा 'सुजला-सुफला' अब रद्दीवाले की ही प्रतीक्षा करने के काबिल बचा है! वीरेन डंगवाल की कविता में मर्मांतक सवाल उभरता है कि 'तोते क्यों पाले गये घरों में/ कूड़ा डालने के काम क्यों लाये गये कनस्तर/ रद्दीवाले ही आखिर क्यों बने हमारी आशा/ बुरे दिनों में?/ जरा सोचो, अक्सर वहीं क्यों

जलायी गयी बत्तियाँ खूब/ जहाँ उनकी सबसे कम जरूरत थी/ जिन पर चलते सबसे कम मनुष्य/ आखिर क्यों वही सड़कें बनीं, चौड़ी-चकली?/ खुशबुएँ बनाने का उद्योग/ आखिर कैसे बन गया इतना भीमकाय/ पसीना जब कि हो गया एक फटा हुआ उपेक्षित जूता/ हमारे इस समय में/ जबकि सबसे साबुत सच तब भी वही था।// इन नौजवानों से कैसे छीन लिया गया उनका धर्म/ और क्यों भर जाने दिया उन्होंने अपने दिमाग में/ सड़ा हुआ जटा-जूट-घास-पात?/ कहाँ से चले आये ये गमले सुसज्जित कमरों के भीतर तक/ प्रकृति की छटा छिटकाते/ जबकि काटे जा रहे थे जंगल के जंगल/ आदिवासियों को बेदखल करते हुए?// आखिर लपक क्यों लिया हमने ऐसी सभ्यता को/ लालची मुफ्तखोरों की तरह? अनायास?/ सोचो तो तारन्ता बाबू और जरा बताओ तो/ काहे हुए चले जाते हो खमखाह/ इतने निरुपाय?'[43] इन सवालों के मर्म को समझने के लिए इनके राजनीतिक-सांस्कृतिक आशय को ग्रहण करने के लिए जरूरी है कि इन्हें न सिर्फ भारतीय काव्य-विकास के सातत्य में देखने का प्रयास किया जाये बल्कि समाज-आर्थिक विकास की प्रक्रिया से भी जोरकर देखा जाये। नागार्जुन के संकल्प से उठे सवाल दिनानुदिन तीखे होते गये क्योंकि 'भारत-भाग्य-विधाता' की 'लाल भवानी' से मुलाकात दिनानुदिन लंबित ही होती चली गई है !

4. बुद्ध, मार्क्स और गाँधी

परिवार में प्यार का नाम ठक्कन था। समाज में पहचान का नाम वैद्यनाथ मिश्र। परिवार से समाज, समाज से जाति, जाति से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व तक की निरंतर और अविच्छिन्न यात्रा करते रहनेवाले वैद्यनाथ मिश्र रवींद्रनाथ ठाकुर की बांग्ला कविता के 'युग-युग धावित यात्री' के मानव निदर्श मैथिली के 'यात्री' हुए। बौद्ध दीक्षा के बाद वैद्यनाथ मिश्र को नागार्जुन की नई संज्ञा प्राप्त हुई।'1939 ई. के अंत में नागार्जुन बौद्ध दर्शन के अध्ययन के लिए लंका गए। लंका के 'विद्यालंकार परिपेण' में नायकपाद धम्मानंद से बौद्धधर्म की दीक्षा लेने पर 'नागार्जुन' नाम मिला मिला।'[44] नागार्जुन बौद्धधर्म में दीक्षित क्यों हुए! प्रसंगवश, ध्यान में होना ही चाहिए कि तब तक बाबा साहेब भीम राव आंबेडकर भी बौद्ध नहीं हुए थे। सोचना और गहराई सोचना जरूरी है कि 'नागार्जुन' होना क्या 'वैद्यनाथ मिश्र' का निर्विचार धर्मांतरण है? या हिंदुत्व के रकबे में जीवन की जमीन के निरंतर कम पड़ते जाने के कारण उत्पन्न सौकर्य से बचने के लिए अनिवार्य जीवन-विश्वास के अनन्य आधार की विकल तलाश में हिंदुत्व की संकोचनशील परिधि से बहिर्गमन है? इस विकल बहिर्गमन को संपूर्ण जातीय चेतना के निष्कंप संतुलन के बिना समझा ही नहीं जा सकता है। यह निष्कंप संतुलन, जो साधारण समीकरण मात्र नहीं है, सधेगा कैसे!

आजकल धर्मांतरण राजनीतिक समीकरण का मामला बना हुआ है। नागार्जुन क्या सोचते हैं? उन्हीं के शब्दों में, 'आए दिन हम हरिजनों और आदिवासियों के धर्मांतर ग्रहण करने की खबरें अखबारों से मालूम कर रहे हैं। पिछले वर्षों में इस प्रकार के समाचार कई रंगों में ओर कई दिशाओं से उछाले गए हैं। धर्मांतर ग्रहण के बारे में छपी हुई खबरों के पीछे, निस्संदेह कई बातें होती हैं। लेकिन एक बात बिल्कुल साफ है कि कोई भी खाता-पीता आदमी या सुशिक्षित-संभ्रांत उच्चवर्गीय व्यक्ति अपना खानदानी धर्म छोड़कर कभी ईसाई, मुसलमान, बौद्ध या फिर हिंदू नहीं

बनता।... हमारे विशाल हिंदू समाज द्वारा समर्पित माल-मलीदा पर पलनेवाले धर्माचार्य, काश, उन हरिजनों की सुध लेते! देखा तो यही जाता है कि जितना बड़ा धर्माचार्य होता है, वह उतने ही बड़े धनकुबेर की छतरी के नीचे विराजता है।... विशाल हिंदी क्षेत्र के अंदर सुदूर फैले विस्तृत ग्रामांचलों में भूमि की मालकीयत का 90 प्रतिशत उच्च जातिवालों के हाथ स्थिर है। भूस्वामित्व पर उच्चवर्णवालों का सख्त कब्जा है। ग्राम भारत के सर्वेसर्वा वही लोग होते हैं। उनकी राय के बिना गाँव का पत्ता भी नहीं हिलता है। पशुओं से भी बदतर हालत में गुजर-बसर करनेवाले भूमिहीन खेतिहर मजदूर इन मालिक लोगों के अक्षरश: गुलाम होते हैं। पिछले वर्षों में सैकड़ों हरिजन मजदूर लाठियों-गोलियों के शिकार हुए हैं। काली अमरीकन प्रजा पर गोरी चमड़ीवाली अमरीकन प्रजा अत्याचार करती है तो हिंदुओं के सभी नेता हमदर्दी के मारे कई दिनों तक खाना नहीं खाते। अपने देश का हरिजन नौजवान आग में भून दिया जाता है, फिर भी हम सारी रात खर्राटे भरते हैं।... मैं अपने अंदर की यह धारणा पाठकों तक पहुँचा देना आवश्यक समझता हूँ कि धर्म की छतरी के नीचे भूखे इन्सान का तड़प-तड़पकर मर जाना मेरी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप है। वैसी स्थिति में प्रत्येक क्षुधित व्यक्ति को मैं राय दूँगा---- 'कोई बात नहीं, तुम ईसाई बन जाओ, बौद्ध बन जाओ, चाहे जैसे हो, पेट भरो! मजहब और इन्सानियत को लात मारो! तुम अपने को सच्चे अर्थों में आजाद घोषित कर दो... !' सच्चे अर्थों में आजाद, यानी दिमागी गुलामी से मुक्त। सर्वहारा सर्वहारा ही होता है, उसका कोई धर्म नहीं होता है। जीती-जागती इन्सानियत और समूची दुनिया में फैली हुई सर्वहारा की अपनी बिरादरी के लिए अखूट कुर्बानी ही उसका सच्चा धर्म होता है।'[45] **एक बार रुककर -- सर्वहारा सर्वहारा ही होता है, उसका कोई धर्म नहीं होता है। जीती-जागती इन्सानियत और समूची दुनिया में फैली हुई सर्वहारा की अपनी बिरादरी के लिए अखूट कुर्बानी ही उसका सच्चा धर्म होता है। --** इन बातों का अर्थ खोजना चाहिए। 1985 में कही गई यह बात नागार्जुन की मूलचेतना ओर मूल्यचेतना दोनों को स्पष्ट करती है। यह चेतना शुरू से अंत तक उनके भीतर सक्रिय बनी रही। सर्वहारा की अपनी बिरादरी के लिए अखूट कुर्बानी का पथ नागार्जुन की चेतना का स्वाभाविक परिपथ है। नागार्जुन के विक्षोभ को समझें तो यह अखूट कुर्बानी न तो युद्ध को रोकनेवाले प्रतियुद्ध से विमुख है और न ही अन्याय को समाप्त करनेवाले प्रतिशोध से ही विमुख है। वे कहते हैं, 'बहुजन समाज की व्यापक विपन्नता से यदि आपका प्रत्यक्ष परिचय है, तब आपको विक्षोभ रस का अनुभव होगा। भावशून्य तरीके से यदि आप अन्न-संकट पर कुछ लिखेंगे तो उससे नकली हमदर्दी की बास आएगी। दरिद्रता, अज्ञान, गुलामी, रूढ़िग्रस्तता, रोग, विषमता---- इनके प्रति हमारे मन में चरम घृणा का अनुभव नहीं हुआ तो हम बहुत बड़ी प्रवंचना के शिकार होंगे। गरीबी की सीमा-रेखा से नीचे रहनेवाले लोगों की संख्या दस-पाँच लाख की नहीं है, यह तो हमारी संपूर्ण जनसंख्या की आधे से ऊपर चली गई है... ऐसी स्थिति में यदि मेरी चेतना विक्षुब्ध भावभूमि पर विराजमान हो गई तो अस्वाभाविक नहीं है। ऐसा नहीं कि विक्षोभ मात्र नागार्जुन को बपौती में मिला हो। प्रत्येक कवि अपने-अपने ढंग से प्रतिकूल भावनाओं के प्रति विक्षुब्ध होता है। वह अपनी रचनाओं में विक्षोभ को व्यक्त करता है। साम्राज्यवादी अंग्रेज शासकों के प्रति उतना अधिक विक्षोभ नहीं रहा होता तो 'भारत-भारती' की रचना न हुई होती। दानवीय अत्याचारों के प्रति विक्षोभ नहीं होता तो रामचरितमानस की एक भी पंक्ति कवि के हृदय से बाहर नहीं आई होती। परंतु आवेगधर्मिता, असह्यनीयता, तीव्रता की दृष्टि एक जैसे लगने पर भी विक्षोभ के आलंबन पृथक-पृथक

होंगे। मेरे अंदर विक्षोभ तब फूटता है, जबकि लगातार बढ़ती हुई महँगाई के कारण लोगों को परेशान पाता हूँ... परम मेधावी बालक और बालिकाएँ गरीबी के चलते अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ने को बाध्य हो जाते हैं, धूर्तों की जमात वर्ष दो वर्ष के भीतर ही लाखों की रकम बटोर लेती है, मेहनत-मशक्कत की कमाई खानेवाला रिक्शा-मजदूर महीनों की फटी बनियान पहनता है.... किसान, खेतिहर, टीचर, किरानी... कौन नहीं है संकट का शिकार। ये वे नहीं हैं जो कवि सम्मेलनों में पहली कतारों में बैठते हैं। यह भी विक्षुब्ध हैं। इन्हीं का विक्षोभ पुंजीभूत होकर मेरी रचनाओं में फूटता रहता है।'[46] काम करने में सक्षम हाथों को काम नहीं है और 'बच्चे काम पर जा रहे हैं/ हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है, यह/ भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना/ लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह'[47]। इसे 'सवाल की तरह' नहीं 'विवरण की तरह' ही लिखा और पढ़ा जाना जारी रहा है। शोध बताते हैं कि भारत में बाल मजदूरी और औपचारिक शिक्षा से 'ड्रॉप आउट' होने की खतरनाक लाचारी सबसे अधिक हिंदी समाज में है। इस लाचारी का दर्द पुंजीभूत होकर हिंदी के कवि को विक्षुब्ध बनाता है तो उसके सर्जनात्मक प्रतिफलन को समाज-आर्थिक-सांस्कृतिक के साथ ही राजनीतिक आशय के संदर्भ में भी समझना होगा। 'जातक अट्ठकथा तथा अन्य पालिग्रंथों के आधार पर धर्मानंदजी (धर्मानंद कोसांबी) ने स्पष्ट किया कि बुद्ध के गृहत्याग का तात्कालिक कारण था रोहिणी नदी के पानी को लेकर शाक्यों और कोलियों का आपसी कलह। ये दोनों गण पड़ोसी थे और जातीय बंधु भी। शाक्यों ने युद्ध करने का निर्णय लिया, बुद्ध ने युद्ध में शरीक होने से इनकार कर दिया और गण संघ की प्रथा के अनुसार दंड के रूप में गृहत्याग को वरण किया। गृहत्याग उन्होंने रात के अँधेरे में भले ही किया हो, लेकिन घर छोड़ा माता, पिता और पत्नी यशोधरा को बताकर और पूरी अनुमति से। कोसांबीजी ने इस घटना को लेकर मराठी में बोधिसत्व नाटक भी लिखा है। बुद्ध का यह निर्णय इतना महत्त्वपूर्ण है कि बौद्ध साहित्य में इसे महानिभिष्क्रमण और प्रव्रज्या की अभिधा दी गई है। आगे चलकर बाबा साहेब आंबेडकर ने भी अपने ग्रंथ बुद्ध एंड हिज़ धम्म में इस शोध की पुष्टि की और किंचित विस्तार से सारी कथा लिखी। कथा तो यह भी मिलती है कि बोधि प्राप्ति के बाद बुद्ध कोलियों के पास स्वयं गए। बातचीत का एक टुकड़ा यह है: 'पानी का क्या मोल है? कुछ भी नहीं। और खून का? वह तो अनमोल है। फिर पानी के लिए खून बहाना कहाँ की समझदारी है?' कहते हैं इस घटना के बाद रोहिणी नदी के पानी का विवाद शांत हो गया। तात्पर्य यह कि बुद्ध युद्ध के विरुद्ध थे। प्रतिशोध से भी उनका विरोध था। महाभारत युद्ध की परिणति संभवत: उस समय जातीय स्मृति में शेष थी और कहीं-न-कहीं बुद्ध के मन में भी वह सुरक्षित थी।'[48]

डॉ. नामवर सिंह बुद्ध को युद्ध और प्रतिशोध के विरुद्ध मानते हैं, और ठीक ही मानते हैं। लेकिन विक्षोभ की भावभूमि पर खड़े नागार्जुन के लिए एक हिंसक समाज में प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव हो सकता है। वे कहते हैं, 'नफरत की अपनी भट्ठी में/ तुम्हें गलाने की कोशिश ही/ मेरे अंदर बार-बार ताकत भरती है/ प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है अपने ऋषि का/ वियत्काङ् के तरुण गुरिल्ले जो करते थे/ मेरी प्रिया वही करती है.../ नव-दुर्वासा, शबर-पुत्र मैं, शबर-पितामह/ सभी रसों को गला-गलाकर/ अभिनव द्रव तैयार करूँगा/ महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन/ अष्ट धातुओं के चूरे की छाई में मैं फूँक भरूँगा/ देखोगे, सौ बार मरूँगा/ देखोगे, सौ बार जियूँगा/ हिंसा मुझ से थर्राएगी/ मैं तो उसका खून पियूँगा/ प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का/ जन-जन में जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्गाता हूँ उस रवि का।'[49] तो यहाँ बौद्ध

दर्शन, नव-दुर्वासा, शबर-पुत्र एवं नागार्जुन की मूल्यचेतना के एक-म-एक होने और एक-म-एक होने के बावजूद अलग होने की भी विकासमान प्रक्रिया को साफ-साफ लक्षित किया जा सकता है। यह लगाव और अलगाव बुद्ध को हासिल ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभव और बोध से नागार्जुन के अनुभव और बोध के पार्थक्य से उत्पन्न है। कहा जा सकता है कि गाँधी-दर्शन में अंतर्भुक्त अहिंसा का मूल संबंध सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंतर्गत हिंदू दर्शन में अंतर्गमित बुद्ध की दार्शनिक चेतना से है। गाँधी-दर्शन के राजनीतिक-सांस्कृतिक आयाम सामाजिक समता की दृष्टि से बहुत कारगर साबित नहीं हुए। गाँधी-दर्शन के व्यावहारिक धरातल पर नाकाम होने की आशंका को समझने में नागार्जुन चूकते नहीं हैं। नागार्जुन ठीक-ठीक पकड़ते हैं कि ब्राह्मणशाही के दलदल से बाहर आये बिना कुछ भी नहीं हो सकता है। इस दलदल से निकलने में गाँधी-दर्शन व्यावहारिक धरातल पर बहुत अधिक सहायक नहीं हो सकता है, बल्कि अधिक सही बात तो यह है कि गाँधी-दर्शन इस दलदल में ही समाधान खोजने का आग्रही है। इस आग्रह में स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान बनी जनाकांक्षा का भी थोड़ा-बहुत बल था। यह आकांक्षा थी जनतंत्र की स्थापना की। जनतंत्र का प्राण समता में बसता है। समता और ब्राह्मणशाही साथ-साथ संभव नहीं हो सकते। जनतंत्र अपनी शांतिपूर्ण-क्रांति से ब्राह्मणशाही को निष्प्रभ बना देगा, इस प्रकार के भ्रम के बन जाने का अवसर था। और अंतत:, जैसा कि भ्रमों के साथ होता ही है, इस भ्रम का पानी जल्दी ही उतरने लगा। इतना ही नहीं, हमारे ‘जनतंत्र’ ने तो ब्राह्मणशाही को ही अपना औजार बना लिया। जन और प्रजा के अंतर को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि हमारा जनतंत्र प्रजातंत्र के द्वार पर गिरबी हो गया। इसका नतीजा हम हिंदी प्रदेशों की समकालीन राजनीतिक अभियानों में पढ़ सकते हैं। 1969 तक आते-आते नागार्जुन के सामने इस जनतंत्र की पोल पूरी तरह से खुल जाती है। जनतंत्र पर सवार नव रुढ़िवाद, नव जातिवाद को देखकर उनकी बेचैनी बढ़ जाती है। वे कहते हैं, ‘इस ’क्रांति-शांति’ के नाटक से/ सच कह दूँ, मैं तो गया ऊब!/ ब्राह्मणशाही की दलदल में/ लो, बापू, फिर हम गए डूब।// इस प्रजातंत्र पर है सवार/ नव रूढ़िवाद, नव जातिवाद/ प्रभुओं के नव-नव गात्र ढले/ फैले ताजे दंगा-फसाद।/ निर्वाचन के हो-हल्ले में/ खो गया हाय बहरा विवेक/ आपाधापी में सबकी है/ कैसे भी जीतूँ, यही टेक!// इस रेल-पेल में, सोचो तो,/ कैसे लगते हैं जिला-दान/ मैं समझ न पाया हूँ अब तक/ वह हीनयान यह महायान।’[50] राजनीति के महायान के झूठे सपनों और हीनयान के क्रूर यथार्थ से ऊपजी सामाजिक बिडंबनाओं ने जन की कातर नजर में जनतंत्र को ब्यर्थ बनाना प्रारंभ कर दिया। ‘‘ताम-झाम थे प्रजातंत्र के लटका था सामंती ताला/ मंत्रीजी, इतनी जल्दी क्या आजादी का पिटा दिवाला//... // और क्या लिखूँ, ...’[51] नागार्जुन सामंती तालों के सुरक्षा कवच में पनाह माँगते प्रजातंत्र के ताम-झाम से ऊपजे जनतंत्र के इस ब्यर्थता-बोध से क्षुब्ध हो उठते हैं।

iv. युवकों और तरुणों की चर्चा ही नहीं चिंता भी नागार्जुन की कविताओं में बहुत है। इतनी चर्चा हिंदी के किसी एक कवि की कविता में तो नहीं ही है, विश्व के दूसरे कवि में भी शायद ही हो। 1955 के अगस्त महीने में पटना के बी. एन. कॉलेज के छात्रों पर गोली चलाये जाने से नागार्जुन की चेतना लहुलुहान हो गई थी। नागार्जुन की चेतना, अर्थात स्वाधीनता का अर्थ हासिल करने के लिए छटपटाती हुई जनचेतना। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से तपकर निकले जवाहरलाल नेहरू के शासन काल में ही इस देश में फासिज्म की धमक नागार्जुन साफ-साफ सुन रहे थे। आज क्या कोई कह सकता है कि यह नागार्जुन का अतिश्रवण या उनकी कविताओं का अतिकथन था! नागार्जुन की कविता में इस धमक को

पहचानने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए! उन की कविता की चीख सुनें, 'नाजियों के बाप!/ जी हाँ, आप!/ गोलियाँ चलवा चुके, अब नेहरू का रुख रहे हैं नाप!/ क्षुब्ध जनता दे रही है श्राप/ पर, न डर से सही खबरें प्रेस पाते छाप!'[52] यह वही नेहरू थे जो दुनिया भर में अपने पंचशील सिद्धांत के कारण शांतिदूत के नाम से जाने जा रहे थे! इस पंचशील में बुद्ध भी थे, महावीर भी थे, सोशलिज्म के साथ ही और भी बहुत कुछ के होने का दावा था! 'दुनिया-भर को पंचशील का पाठ पढ़ाओ/ आइजनहावर के माथे पर मलो रात-दिन/ सत्य-अहिंसा की बातों का बादामी गुलरोगन/ हमें पिलाओ अनुशासन की बासी खट्टी छाछ/ बात-बात पे हंटर मारो/ कदम-कदम पे छोड़ो आँसू गैस/ अदना-अदना-सी बातों की खातिर भड़को/ गोली मारो/ खून बहाओ'।[53] जवाहरलाल नेहरू के घरेलू व्यवहार ने जनकवि के सामने उन्हें नंगा कर दिया था। बाहर और भीतर के इस अंतर को नागार्जुन की कविताएँ पकड़ती हैं, 'बाहर के लेखे तुम हो गौतम बुद्ध/ घर में लेकिन बात-बात पे क्रुद्ध/ बाहर निभा रहे हो अपने पंचशील-दसशील/ ठोक रहे हो घर में तरुणों के सीने पर कील'[54]। इससे अधिक दयनीय स्थिति क्या हो सकती थी कि जिस नेहरू के कंधे पर देश का झंडा था उस नेहरू की चिंता काँग्रेसी शासन के डंडे को ऊँचा करने में लग गई थी। 'दस हजार, दस लाख मरें, पर झंडा ऊँचा रहे हमारा!/ कुछ हो काँग्रेसी शासन का डंडा ऊँचा रहे हमारा!/ सत्य-अहिंसा की लाशों पर नादिरशाही तख्त जमाएँ!/ नई पौध को मसल-मसलकर दुनिया-भर में नाम कमाएँ!/ बाहर की दुनिया की खातिर पंचशील-दसशील निबाहें!/ सड़ी-गली नौकरशाही की यही हकूमत घर में चाहें!/ समझ न पाएँ, सोच न पाएँ, पब्लिक की वाजिब नाराजी!/ अजी वाह! आरती उतारें चापलूस टुच्चे ओ पाजी!/ कदम-कदम पे अश्रुगैस है, बात-बात पे लाठी-गोली!/ पुलिस लाड़ली खेल रही है जन-जीवन से खूनी होली!/ इकतरफा फुफकार रहा है लालकिले का भारी झंडा!/ ओ बिहार, क्या देख रहा तू! खाता चल नेहरू का डंडा!'[55] शब्दों के साथ होनेवाले शासकीय छल ओर राजनीति के प्रपंच को नागार्जुन ठीक पकड़ते हैं, 'लो गौतम का, लो अशोक का, लो गाँधी का नाम/ दिन बदला, शैतान करेंगे सोशलिज्म का नाम/ पटने में आकर देखो छुटभैयों की करतूत/ यों ही मत फटकारो हमको विश्व-शांति के दूत!/ सारी जनता बेवकूफ है, समझदार तुम एक/ मुल्क जहन्नुम में जाए, पर निभे पुलिस की टेक/ सौ-सौ दीनानाथ मरें, पर निभे पुलिस की शान/ खीझ-खीझकर करें लोग इस झंडे का अपमान/ विश्व-शांति का, सोशलिज्म का रहो छाँटते ज्ञान/ तुम दिल्ली में बैठे-बैठे देते रहो बयान// नेहरू आए, नेहरू आए, छोड़ी यों फुफकार/ झुलसी पब्लिक, जुड़ा गई लेकिन बिहार सरकार/ लोग सजग थे, आँखों में कैसे डलवाते धूल/ गुस्से में आकर तब नेहरू बोले ऊलजलूल---/ ''चलें गोलियाँ, मरें-गिरें चाहे लाखों इंसान/ मैं न कभी बर्दाश्त करूँगा झंडे का अपमान/ भारत को बदनाम कर रहे गुंडे हुल्लड़बाज/ नई-नवेली आजादी पर गिरने दूँ मैं गाज!/ कर देगा कमजोर हमें गुंडागर्दी का रोग! बदनीयत अखबार यहाँ के, बदनीयत हैं लोग!/ तंग-नजर, उच्छृंखल, बुद्धू, जिद्दी और अपात्र!/ भारत को चौपट कर देंगे ये बिहार के छात्र''//.. // बात-बात में लेते हो तुम रूस-चीन का नाम/ लेकिन तुमसे पूछूँगा मैं उन देशों का हाल--- / पुलिस खींचती इसी तरह क्या वहाँ छात्रों की खाल?/ इसी तरह क्या चीफ मिनिस्टर वहाँ बहाता खून?/ इसी तरह क्या वहाँ जिबह होता रहता है कानून?/ इसी तरह क्या वहाँ मिनिस्टर गँवा बैठते होश?/ इसी तरह प्रीमियर वहाँ जतलाते आक्रोश?'[56] इतना ही नहीं, वे आगे भी कहते हैं कि 'अर्थचक्र में पिष्ट-प्रपीड़ित जन-जीवन है क्षुब्ध;/ धर्मचक्र है झंडों पर ही, टिकटों पर हैं बुद्ध। / बाहर कुछ हो, भीतर-भीतर भारत है असमर्थ;/ घर

की खातिर बदल गया है पंचशील का अर्थ।/ जितनी जिसमें लोभ भी उतना ही विकराल;/ घूम रहे हैं राजपथों पर डाकू अंगुलिमाल।/ .. / शासन के कुछ और सत्य हैं, जनता के कुछ और! / संशय में पड़ गए तथागत, संतों के सिरमोर!’[57] व्यवस्था चाहे जैसी भी हो, शासन के सत्य और जनता के सत्य में अंतर तो रहता ही है। इस अंतर को पूरी तरह पाटना तो शायद असंभव ही होता है। जनतंत्र का जन्म इस अंतर को न्यूनतम स्तर पर लाने की आकांक्षा से हुआ। शासन व्यवस्था में इस अंतर के कम होने के बदले बढ़ते रहने के रुझान से जनतांत्रिक चेतना की अंतर्वस्तु में छीजन की ही सूचना मिलती है। राजनीतिक आजादी के मिलने और जनतंत्र की स्थापना के बाद के प्रारंभिक वर्षों से ही भारत में शासन के सत्य और जनता के सत्य के बीच का अंतर बढ़ने लगा। निश्चित ही इसे जनतंत्र की अंतर्वस्तु में आ रही छीजन के रूप में ही देखा जा सकता है। सिद्धांत और व्यवहार का अंतर सबसे अधिक युवाओं को प्रभावित करता है। इसका दुष्प्रभाव सर्वाधिक प्रखरता से युवकों में ही परिलक्षित और सक्रिय होता है। शायद इसीलिए किसी विद्रोह की पहली झलक युवा चेतना में ही दिखा करती है। इस विद्रोही तेवर पर आँख मूँदकर पाबंदी लगाना सिद्धांत और व्यवहार की सार्थक संगति की संभावनाओं की तलाश पर ही पाबंदी लगाना होता है। इन बातों को नागार्जुन खूब समझते हैं, ‘युवकों पर पग-पग पाबंदी/ तरुणों का कुंठित ताप-मान?/ बतला दो बापू, क्या थे तुम/ बूढ़े धूर्तों का सामगान ?’[58]

नागार्जुन का विश्वास उस जनतंत्र में था जिस में शासक के सत्य ओर जनता के सत्य में अंतर कम हो। लेकिन भारतीय जनतंत्र का विकास जिस दिशा में हो रहा था वह उनकी कविताओं में गहरी चिंता बनकर उतरती है। दुर्घटनाग्रस्त होते हुए भारतीय जनतंत्र को विकल दृष्टि से देखते हैं, ‘लगता है/ प्रजातंत्र का रथ/ उतर गया है पटरी से/ लगता है/ सारी-की-सारी पार्टियों के नेता/ खेल रहे हैं/ दलीय स्वार्थों के शतरंज/ अंधे धृतराष्ट्र की मोह-माया/ भली-भाँति प्रवेश कर गई है/ दलपतियों के अंत:करण में/ लगता है/ बुद्धिजीवियों की हमारी अपनी बिरादरी भी/ शत-प्रतिशत लिप्त है/ सुविधाएँ बटोरते जाने की द्यूत-क्रीड़ा में’।[59] निर्वाचन जनतंत्र के ढाँचे को गढ़ने की प्राणप्रक्रिया है। वही निर्वाचन अगर कर्मकांड हो जाये तो वह जनतंत्र के ढाँचे की ही नहीं अंतर्वस्तु की भी नाशप्रक्रिया बन जाता है। यह जनतंत्र को पटरी से उतार कर ही दम लेता है, ‘यह निर्वाचन, यह कर्मकांड/ यह माई जी, ये यंत्र-मंत्र/ घट रही आयु, पट रहा पेट/ अद्‌भुत है अपना प्रजातंत्र’।[60] वे देख और दिखा रहे थे कि ‘लाशों को झकझोर रहे हैं/ मुर्दों की मालिश करते हैं/ निर्वाचन के जादूगर हैं/ राजनीति के मायाधर हैं/ इनकी जय-जयकार मनाओ/ इनकी ही सरकार बनाओ/ पीछे देखा जाएगा जी/ आएगा जो, आएगा जी/... / फिर क्या होगा!/ फिर क्या होगा!’[61] जब संवैधानिक प्रक्रिया राजनीति के मायाधर और निर्वाचन के जादूगर की इस नाशप्रक्रिया को रोक पाने में विफल होने लग जाती है तब वह संविधान के जीर्ण-शीर्ण हो जने को ही प्रमाणित करती है। नागार्जुन इस प्रमाण का आशय समझते हैं, ‘जीर्ण-शीर्ण है संविधान यह/ जैसा अपना पुरुष-पुरातन/ नित्य नवीना प्रकृति तुम्हारी/ देती अध्यादेश दनादन/ बाकी दलपति महिषासुर हैं/ काम नहीं आया मशीनगन/ चमत्कार पर चमत्कार से/ सचमुच अघा गया क्या जन-मन/ जीर्ण-शीर्ण है संविधान यह/ जैसा अपना पुरुष-पुरातन’।[62] संविधान ‘पुरुष पुरातन’ अर्थात ईश्वरीय आश्वासन की तरह ही निरर्थक हो जाता है। बहुत ही वेदना के साथ नागार्जुन कहते हैं, ‘भारत-माँ के कृश शरीर पर बहुमत का

गुलरोगन/ चमक उठा, वह क्यों न करे अब झुक-झुकर अभिवादन/ ऐसी हवा बहा दी तुमने, झूम उठा है जन-मन/ अब तो बंद करो, हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन’।[63] फिर स्थिति यह बनती है, ‘अपराधों की राख मलो तुम/ लोकतंत्र के दर्पण में/ बीस गुना चमकेगा मुखड़ा/ फिर तो आत्मसमर्पण में’।[64] इस देश में आजादी के बाद बहुत कुछ हुआ; अच्छे काम का लाभ समर्थ ले उड़े और बुरे नतीजे जन-गण के हिस्से में आये! ‘सामंतों ने कर दिया प्रजातंत्र का होम/ लाश बेचने लग गए खादी पहने डोम/ खादी पहने डोम लग गए लाश बेचने’।[65] प्रजातंत्र के ढाँचे में तानाशाही के विकसित हो रहे नव-यथार्थ की जीवन-संवेदना नागार्जुन की काव्य-संवेदना में स्वर पाती है, ‘नए राष्ट्र की नव दुर्गा है/ नए खून की प्यासी/ नौ मन जले कपूर रात-दिन/ फिर भी वही उदासी/ लूट-पाट की काले धन की/ करती है रखवाली/ पता नहीं, दिल्ली की देवी/ गोरी है या काली!// तानाशाही तामझाम है/ सोशलिज्म का नारा!/ पार्लमंट पर चमक रहा है/ मारुति का ध्रुवतारा !’[66] जन के जीवन में आई ऐसी गड़बड़ी, आया ऐसा कष्ट कि न उसकी हुई जनवरी, न हुआ उसका अगस्त! ‘किसकी है जनवरी, किसका अगस्त है!/ कौन यहाँ सुखी है, कौन यहाँ मस्त है!/ सेठ ही सुखी है, सेठ ही मस्त है/ मंत्री ही सुखी है, मंत्री ही मस्त है/ उसी की ही जनवरी है, उसी का अगस्त है’।[67]

बेकाबू

महँगाई की मार से त्रस्त जीवन के कवि से यह बात छिपी नहीं रह जाती है कि मुनाफाखोर-शोषक व्यवस्था में महँगाई का बढ़ना प्रदत्त मजदूरी को प्रकारांतर से अपहृत कर मुनाफा बढ़ाने और शोषण करने का ही दोहरा खेल होता है। ‘महँगाई के सूपनखा के सगे बंधु हैं/ कुटिल क्रूर शोषक समाज के कृपासिंधु हैं/ इनका क्या, ये क्रांति-भ्रांति के प्रबल सूत्र हैं/ सातों सागर इनके ही तो दिव्य मूत्र हैं/ जादू क्या दिखलाए गंगाजल या गोबर/ फैल गया है दिव्य मूत्र का लवण सरोवर!’[68] और इसीलिए, ‘दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है/ देखो तो महँगाई की लीला/ सौ-सौ बरगद-ताड़ झुक गए/ देखो तो राई की लीला’।[69] आज के रोजगारहीन विकास के जमाने में जब बढ़ती हुई मँहगाई और पर्याप्त आधिकारिकता अर्थात क्रय-शक्ति में आ रही निरंतर गिरावट से संपन्नता में विपन्नता की प्राणनाशक स्थिति दिनानुदिन उग्र होती जा रही है तब यह किसी की काव्य-संवेदना का महत्त्वपूर्ण हिस्सा क्यों नहीं बन पा रही है! नागार्जुन की काव्य-संवेदना के बड़े फलक पर स्थिति की यह उग्रता अभिव्यक्त होती है। नागार्जुन फासिस्ट आहटों को साफ-साफ सुनते हैं। डॉ नवल को लिखे एक पत्र में नागार्जुन की चिंता है, ‘फासिस्ट तानाशाही का खतरा: वामपक्ष का दायित्व अभी-अभी पढ़कर समाप्त किया। तुम्हारी कलम से इस प्रकार के उद्गार का मैं इंतजार ही कर रहा था। वस्तुत: वामपक्ष की अवसरवादिता अगणित अनर्थों को जन्म देती है। वह निश्चिंत है कि इतने बड़े देश में हिटलर-मुसोलिनी-चिनांङ् का अवतार हो ही नहीं सकता! ढुलमुल किस्म का यह प्रजातंत्र हमारे इन साथियों को मन ही मन अच्छा ही लग रहा होगा। जैसे-जैसे वामपंथी विधायकों की तादाद बढ़ती जाए ‘साझा-सरकार’ के अंदर दक्षिणपंथ-वामपंथ और भी सटकर बैठने लगे, पार्टी नेतावृंद को प्रभुत्व का स्वाद मिले, और... यही कुछ तो इनका ‘काम्य’ और ‘प्रेय’ रहा होगा न?’[70] एक ओर राजनीतिक विकास-क्रम में वामपंथ के इस रुझान से नागार्जुन चिंतित होते हैं तो दूसरी तरफ साहित्य में बन रहे रुझान भी उन्हें उसी स्तर पर बेचैन करता है। वे कहते हैं, ‘यह साफ है कि इन्दिरापंथी और रूसपंथी साहित्य-पुरोहितों की अगवानी में बाहर के काफी मेहमान यहाँ जुटेंगे। बाहर के गुरिल्ला जन-पुत्रों के बारे में भले ही दो-चार शब्द कह-सुन लिए जाएँगे; मगर श्रीकाकुलम में, बंगाल

में और अन्यत्र सैकड़ों की तादाद में जो धरतीपुत्र मारे जा रहे हैं, उनकी याद तक न की जाएगी! ठीक है, 'सरकारी हिंसा हिंसा न भवति'!'[71] इस समझदारी के साथ ही नागार्जुन सांस्कृतिक विकास की अपनी स्वायत्त प्रक्रिया के महत्त्व को नजरअंदाज नहीं कर देते हैं। इसलिए वे सांस्कृतिक विमर्श को किसी वैचारिक घेरेबंदी में नहीं जकड़कर प्राथमिक रूप से उसे संवेदना के खुले मैदान में ले आना चाहते हैं। 'बौद्धिक धरातल पर अतिवाम-वामातिवाम, सहजवाम एक ओर... दूसरी तरफ अतिदक्षिण, दक्षिणातिदक्षिण, सहज दक्षिण... और मध्यवर्ती (यथास्थितिवादी) ... सभी प्रकार के युवक साहित्यकारों को आमंत्रित करो। बेहिचक... बेखौफ... तरुण यदि सामयिक प्रवृत्तियों की नक्सली मीमांसा से श्रोता-समूह को प्रभावित करना चाहें, करने दो प्रभावित। मगर मधोक-गोलवरकरवाली दर्शन पद्धति का सहारा लेकर यदि कोई अति-दक्षिण रुझान श्रोताओं में पैदा करना चाहे तो उसे भी छूट दो... 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध:'... हाँ, तुम्हारा अपना भी तो बहुजन-समाज-हितकारी, स्वस्थ सुखमय भविष्यदर्शी, आधुनिक अर्थों में परमार्थिक दृष्टिकोणवाला वैकल्पिक मानवतावाद सामने आना चाहिए न?'[72] हुआ उलटा! खासकर हिंदी समाज में राजनीतिक संदर्भ की व्यावहारिक दलबंदी शिथिल होती गई और सांस्कृतिक विमर्श में एक प्रकार की वैचारिक कट्टरता को अधिकाधिक प्रश्रय मिलता गया। इसका दुखांत यह हुआ कि हिंदी साहित्य की प्रगतिशीलता सामाजिक विमर्श में व्याप्त होने के बदले सांगठनिक विमर्श में संकुचित होकर रह गयी। दूसरी ओर राजनीति में दुनिया को बदलने की वैचारिक और सामाजिक प्रतिबद्धता की जगह बदलती हुई दुनिया में अपने लिए जगह सुरक्षित करने की दलीय दिलचस्पी बढ़ती गई। लाभ हुआ किस को? उनको जो सोच रहे थे, 'देखो, देखो वामपंथ का/ असर नहीं फैले उत्तर में/ देखो, देखो, इस पंजे की छाया राज करे घर-घर में/ पारसबीघा की लपटों का/ धुआँ दिखे अवनी-अंबर में/ सारे चीफ मिनिस्टर रेंकें/ भजनलाल के मीठे स्वर में/ देखो, देखो वामपंथ का असर नहीं फैले उत्तर में'।[73] यहाँ 'उत्तर', इस स्थिति के जवाब के अर्थ में भी पठनीय है और हिंदी समाज, अर्थात उत्तर भारत के अर्थ में भी पठनीय है! 'पारसबीघा की लपटों' में क्या होता है? 'इस होली में भूमिहीन की/ किस्मत का भुट्टा सिकता है/ खेतों में बंदूकें उगतीं/ टके सेर तो बम बिकता है/ क्रांति दूर है, सच-सच बतला/ बुद्धू, तुझको क्या दिखता है/ आ, तेरे को सैर कराऊँ/ घर में घुसकर क्या लिखता है'।[74] नागार्जुन घर में घुसकर लिखनेवालों को अर्थात अपने लिए अधिकतम सुरक्षित जगह सुनिश्चित कर कविता लिखनेवालों को बाहर सैर करने के लिए उकसाते हैं; यह महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि इस उकसावे का अर्थ दूसरे के लिए जितना है उतना ही नागार्जुन के खुद के लिए भी है। बाहर निकलने की तैयारी में, 'बुद्धू का दिल तो कहता है/ अबके भारी गहन लगेगा/ बुद्धू का दिल तो कहता है/ अबके संसद भवन ढहेगा/ बुद्धू का दिल तो कहता है/ बच्चा-बच्चा अस्त्र गहेगा/ बुद्धू का दिल तो कहता है/ कोई अब न तटस्थ रहेगा'।[75] एक ऐसी बेचैनी जो अपनी अनमोल उपलब्धि की निरर्थकता के भँवर में फँसते हुए देखने से उठती है, ऐसी बेचैनी जो अपने घर में आग लग जाने पर निष्क्रिय पड़ोसियों को देखकर हत्कार्य का विकल रुदन बन जाती है, 'भूँक-भूँककर हम तो हारे/ बैठे रहते हैं मन मारे/ लाएँ मीठे वचन कहाँ से/ फीका मन है, चिंतन खारे// आएँ, नक्सलपंथी आएँ/ बड़े बड़ों के भूत भगाएँ/ युग-युग से संचित कूड़ों में/ निर्मम होकर आग लगाएँ// आजादी के भ्रम में हमको/ बाइस-तेइस साल हो गए/ आग उगलते थे जो साथी/ चिकने उनके गाल हो गए// जात-पाँत के गिरधारी हैं/ नारों के ही नागनथैया/ प्रजातंत्र की गोल झील में/ संविधान की खेते नैया।'[76] अपने निभृत

एकांत में नागार्जुन अपने और बहुसंख्यक भारतीय के स्वजन को नये सिरे से पहचानने के लिए विकल हो जाते हैं, 'इस निभृत एकांत में/ क्यों स्वजन आते याद?/ चाहता हूँ--/ बस, उन्हीं से हो अभी संवाद!/ किंतु सोचना है मुझको/ होगा कौन/ मेरा स्वजन आज!'[77]

तटस्थता

तोड़नेवाले संगठित प्रयास की निष्क्रियता और असंगठित प्रयास की अतिसक्रियता से उठनेवाले राजनीतिक धुआँ का सामाजिक आशय नागार्जुन की कविताओं का सांस्कृतिक अभिप्राय बनकर प्रकट होता है। 'यही धुआँ मैं ढूँढ रहा था/ यही आग मैं खोज रहा था/ यही गंध थी मुझे चाहिए/ बरूदी छर्रे की खुशबू!.../ मुन्ना, मुझको पटना-दिल्ली मत जाने दो/ भूमिपुत्र के संग्रामी तेवर लिखने दो/ पुलिस दमन का स्वाद मुझे भी चखने दो/ मुन्ना, मुझे पास आने दो/ पटना-दिल्ली मत जाने दो।/ यहाँ अहिंसा की समाधि है/ यहाँ कब्र है पार्लमेंट की/ भगत सिंह ने नया-नया अवतार लिया है/ अरे यहीं पर/ जन्म ले रहे हैं/ आजाद चंद्रशेखर भैया भी/ यहीं कहीं बैकुंठ शुक्ल हैं/ यहीं कहीं बाघा जतीन हैं/ यहीं अहिंसा की समाधि है/.... / चमत्कार है इस माटी में/ इस माटी का तिलक लगाओ,/ बुद्धू, इसकी करो वंदना/ यही अमृत है, यही चंदना/ बुद्धू इसकी करो वंदना// यही तुम्हारी वाणी का कल्याण करेगी/ यही मृतिका जनकवि में अब प्राण भरेगी/ चमत्कार है इस माटी में'।[78] वंदना के इस आह्वान पर हिंदी समाज ने कान नहीं दिया--- न राजनीतिक स्तर पर और न सामाजिक स्तर पर! नतीजा? नागार्जुन इस चमत्कारी माटी की वंदना करते रहे और इस माटी से एक नई ज्वाला फूटने लगीं। उन्हीं के शब्दों में, 'हमारे देश की संस्कृति प्रारंभ से ही सामाजिक संस्कृति रही है। इसे व्यापक जनसमूह की मान्यता रही है। इधर अल्पमत का नवधनाढ्यवर्ग अपनी धौंसपट्टी से व्यापक जन-समुदाय को अपने काबू में कर लेने की कोशिश में लगा हुआ है। इसीलिए उल्लास को उन्माद में बदल दे रहा है। मंदिर-मस्जिद विवाद भी इसी उन्माद की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है। इस उन्माद की लपटें अब बहुत ऊँचाई तक पहुँच चुकी है।'[79] इस विवाद का हल कैसे निकलेगा? 'अयोध्या-विवाद का हल हम मुट्ठी-भर भद्र लोग नहीं निकाल सकते। अयोध्या के विवाद को दलित सेना हल करेगी।... अखबारों में छपा था कि दो लाख लोगों ने यह लिखकर शायद प्रधानमंत्री को दिया कि बाबरी मस्जिद का ढाँचा उन्होंने गिराया है। परंतु क्या वे ऐसा भी लिखकर कभी प्रधानमंत्री को दे सकते हैं कि भूख, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी का ढाँचा हम तोड़ेंगे?'[80] हम हार के कगार पर नहीं हैं। हाँ, एक लड़ाई के सम्मुख जरूर हैं। इस लड़ाई से मुँह चुराने से अब काम नहीं चलेगा। नागार्जुन इस बात को समझते हैं कि यह लड़ाई दलित सेना की सत्तालोभी शक्तियाँ नहीं लड़ेंगी! उन शक्तियों के मार्क्सवादी विमर्श से तैयार परिवर्तन का स्वप्न ही इस लड़ाई को लड़ेगा जिन शक्तियों के बारे में वे कहते हैं, 'जुगनू हैं ये स्वयंप्रकाशी/ पल-पल भास्वर पल-पल नाशी/ कैसा अद्भुत योगदान है/ इनका भी वर्षा-मंगल है/ इनकी विजय सुनिश्चित ही है/ तिमिर तीर्थवाले दंगल में/ इन्हें न तुम 'बेचारे' कहना/ अजी, यही तो ज्योतिकीट हैं/ जान भर रहे हैं जंगल में'।[81] क्या अपने सामाजिक यथार्थ से मार्क्सवाद का अंत:संयोजन मार्क्सवाद का विचलन होगा, उसका विकास नहीं! कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में मार्क्सवाद ने जरूरी अंत:संयोजन किया है और यह अंत:संयोजन मार्क्सवाद का विकास ही है, विचलन नहीं। साहित्य की बात पर कौन कान धरेगा? साहित्य तो राजनीति के पैर की फटी जूती भी नहीं है! जो चाहे उससे जवाबतलब कर सकता है, जो चाहे उसे धमका सकता है! जनता का साहित्य जनचरित्री राजनीति के साथ कंधे से कंधा मिलकर चलते हुए भी, निर्धारित दलीय एजेंडे के अनुशासन से बाहर के छूटते हुए और कई बार जनचरित्री राजनीति को तात्कालिक असुविधा में डालनेवाले यथार्थ को भी साहसपूर्वक देखने का प्रयास करता है। इसलिए नागार्जुन भी 'सोचते रहे, सोचते रहे:/ क्रांति, समता, प्रगति, जनवाद/-- आजीवन हमने / इन शब्दों से काम लिया है/ वे हमें चेतावनी दे

गए हैं!’[82] नागार्जुन इन शब्दों से आजीवन इसलिए काम लेते रह सके कि उन्होंने बार-बार अपने को भी टटोला कि ‘धर्मभीरु पारंपरिक जन-समुदायों की/ बूँद-बूँद संचित श्रद्धा के सौ-सौ भाँड़/ जमा हैं, जमा होते रहेंगे/ मठों के अंदर.../ तो क्या मुझे भी बुढ़ापे में ‘पुष्टई’ के लिए/ वापस नहीं जाना है किसी मठ के अंदर?’ किसी ‘पुष्टई’ के लिए मठ के अंदर बस जाने से आजीवन प्रयत्नपूर्वक बचे रह सके। नागार्जुन की कविताओं की राजनीतिक चेतना के सांस्कृतिक फलितार्थ को मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक, जातीय, राष्ट्रीय और वैश्विक जीवन के स्वाभाविक तथा सघन संबंधों और संघर्षों की सहयोजी भूमिका से ही समझा जा सकता है। यही सहयोजी भूमिका नागार्जुन की कविता की राजनीतिक चेतना के सर्जनात्मक प्रतिफलन को कालातीत तत्काल का क्लासकीय आयाम प्रदान करती है।

आज पूरी दुनिया पुरानी अवधारणाओं के नये अर्थ तलाश रही है। इस तलाश में कुछ नए अर्थ तो उसके हाथ लग रहे हैं, लेकिन अधिकतर मामलों में पुराने अर्थों को ही नए रूप में नई चमक के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। छूटी हुई परियोजनाओं के हवाले से आधुनिकता को जन्म से ही विकलांग घोषितकर उससे पल्ला छुड़ाने का भी प्रयास किया जा रहा है। इस क्रम में ’उत्तर’ के नाम पर ’पूर्व’ के रमणीयार्थ को अधिक रसात्मक बनाकर पेश किया जा रहा है। ऐसे में ठहरकर यह देखना जरूरी है कि परिस्थितियों के किस कशमकश के बीच से आधुनिकता की कोपलें विकसित हुई थीं। जिन हाहाकरों के बीच आधुनिकता का जन्म हुआ था, उन हाहाकरों का अब क्या होने जा रहा है। आधुनिकताओं और राष्ट्रीयताओं के बीच--- संगति और विसंगति दोनों ही स्तर पर--- कैसा अंतस्संबंध है? भारत में विभिन्न प्रकार की आंतरिक और बाह्य औपनिवेशिकता का दुर्दम्य वर्चस्व रहा है। इसलिए भारत के संदर्भ में तो ये सवाल और भी संवेदनशील एवं तीखे हैं। स्वाभाविक ही है कि आधुनिकताओं और राष्ट्रीयताओं के सवाल के उठते ही सतह पर विभिन्न प्रकार के सामाजिक और वैचारिक तनाव का वातावरण बनने लगता है। इसलिए इन सवालों को बहुत ही सावधानी के साथ उठाना होगा। एक सावधानी तो यही कि राष्ट्र एक राजनीतिक अवधारणा है संस्कृति उसकी पोषिका है, नियामिका नहीं और आधुनिकता एक सांस्कृतिक अवधारणा है, राजनीति उसकी संवाहिका है संचालिका नहीं। निश्चित रूप से भारत की आधुनिकताओं और राष्ट्रीयता/ जातीयताओं के संघटन में औपनिवेशिकताओं के विरुद्ध सामाजिक संघर्ष और अन-औपनिवेशिकता के जाग्रत सामाजिक स्वप्न अवश्य ही हैं। कहना न होगा कि उपनिवेशी और उपनिवेशित के संघर्ष और जाग्रत स्वप्न कभी भी एक ही नहीं हो सकते और इसीलिए इनकी आधुनिकताएँ और राष्ट्रीयताएँ भी कभी एक ही नहीं हो सकती हैं। बल्कि उपनिवेशियों और उपनिवेशितों के संघर्ष और स्वप्न के कई महत्त्वपूर्ण आयाम एक दूसरे के विलोम में ही होते हैं, इसलिए स्वाभाविक ही है कि उपनिवेशियों और उपनिवेशितों की आधुनिकताएँ और राष्ट्रीयताएँ के भी कई महत्त्वपूर्ण आयाम एक दूसरे के विलोम में ही विरचित होते हैं। परिधि की सामाजिकताओं की चिंता के केंद्र में इस तरह के कई सवाल आकार पा रहे हैं। हमारी चिंता के केंद्र में ये सवाल हिंदी समाज के सरोकारों के साथ प्रमुख रूप से जुड़े हुए हैं। याद करना जरूरी है कि क्या थे हिंदी समाज में आधुनिकता पूर्व के सामाजिक और वैचारिक अंतर्विरोध? क्या हैं आज के मुख्य सामाजिक और वैचारिक अंतर्विरोध? इन से बाहर निकलने की कितनी है छटपटाहट? क्या हैं दुश्चक्र से बाहर निकलने के

रास्ते? ग्लोबल के बल और राष्ट्रीयता के मतलब को समझने के प्रयास में उभरे सवालों को नागार्जुन के काव्यानुभवों के सहारे भी बहुत हद तक समझा जा सकता है।

संदर्भः

1. नागार्जुन रचनावली- 6 : एक व्यक्ति: एक युग 1962: आत्मप्रतिष्ठा का संघर्ष
2. नागार्जुन रचनावली-1: उनको प्रणाम: विशाल भारत, मई 1939
3. डॉ. नामवर सिंह: 'नागार्जुन: प्रतिनिधि कविताएँ' की भूमिका: राजकमल प्रकाशन
4. डॉ. नामवर सिंह: 'नागार्जुन: प्रतिनिधि कविताएँ' की भूमिका: राजकमल प्रकाशन
5.नागार्जुन रचनावली-1: मनुष्य हूँ: अगस्त 1946 युगधारा/ पारिजात, मार्च 1948
6. डॉ. शंभुनाथ: दुस्समय में साहित्य: नूह की नौका में कविता: वाणी प्रकाशन, 2002
7. नागार्जुन रचनावली-2: हुकूमत की नर्सरी: खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1975
8. यशपाल: झूठा सच: भाग-1 (वतन और देश) का अंतिम वाक्य
9. डॉ. नामवर सिंह: 'नागार्जुन: प्रतिनिधि कविताएँ' की भूमिका: राजकमल प्रकाशन
10. नागार्जुन रचनावली-6 : विषकीट, 1982
11. डॉ. शंभुनाथ: धर्म का दुखांत: धर्मनिरपेक्ष संस्कृति का दुर्ग: आधार प्रकाशन, 2000
12. मुक्तिबोध रचनावली भाग- 5: 'कलात्मक अनुभव' संभावित रचनाकाल 1959-64
13. एक मित्र की पत्नी का प्रश्न चिह्न: मुक्तिबोध रचनावली: 4
14. हरिजनगाथा
15. नागार्जुन रचनावली -2 : इन सलाखों से टिकाकर भाल : खिचड़ी विप्लव देखा हमने 1976
16. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :यह कैसे होगा?: सतरंगे पंखोंवाली: 1956
17. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन: प्रतिबद्ध हूँ: 5 मार्च 1976
18. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन: नेहरू: हजार-हजार बाँहोंवाली/ खून और शोले, 1955
19. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन: दिमागी गुलामी: कौमी बोली, जनवरी 1944
20. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन : दिमागी गुलामी : कौमी बोली, जनवरी 1944
21. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन : दिमागी गुलामी : कौमी बोली, जनवरी 1944
22. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन : दिमागी गुलामी : कौमी बोली, जनवरी 1944
23. प्रो. अमर्त्य सेन: आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य- अकाल और अन्य आपदाएँ (अनु. भवानी शंकर बागला) राज प्रकाशन, 2001
24. रघुवीर सहाय : एक समय था : गुलामी -1972
25. आनंद प्रधान: खेती के शत्रु और मित्र: जनसत्ता - 1 सितंबर 2001
26.नागार्जुन रचनावली1: राजकमल प्रकाशन:अन्न पचीसी, जनशक्ति 28 जनवरी 1965
27. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन : वह तो था बीमार :हजार-हजार बाँहोंवाली,1954
28. डॉ एम. एस. स्वामीनाथन का यह संदर्भ 'फ्रंट लाइन' 16 फरवरी 2001से है।
29. नागार्जुन रचनावली-1: राजकमल प्रकाशन: फसल: पुरानी जूतियों का कोरस सितंबर 1962
30. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :नया तरीका : हजार-हजार बाँहोंवाली, 1953
31. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन:.. और बस अंधकार है:हजार-हजार बाँहोंवाली/ जनयुग, 22 जून 1965

32. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन : हरगंगे : विद्यापति के देश में, 1952
33. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : तीनों बंदर बापू के : तुमने कहा था, 1969
34. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन:पूरी आजादी का संकल्प:हजार-हजार बाँहोवाली/ जनशक्ति 26 जनवरी 1953
35. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन :मानस चतु:शताब्दी समारोह: मुक्तधारा, 6 मई, 30मई, 20 जून 1970
36. नागार्जुन रचनावली -6: राजकमल प्रकाशन: मानस चतु:शताब्दी समारोह: मुक्तधारा, 6 मई, 30 मई, 20 जून 1970
37. प्रोफेसर तुलसी राम से रामाज्ञा राय शशिधर की बातचीत : समयांतर, मार्च 2003
38. नागार्जुन रचनावली -6: राजकमल प्रकाशन: मानस चतु:शताब्दी समारोह: मुक्तधारा, 6 मई, 30मई, 20 जून 1970
39. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :तुम किशोर, तुम तरुण... : सतरंगे पंखोंवाली : 1956
40. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :अकाल और उसके बाद : सतरंगे पंखोंवाली, 1952
41. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :लाल भवानी : हजार-हजार बाँहोंवाली : हंस, अप्रैल 1948
42. रघुबीर सहाय : अधिनायक : आत्महत्या के विरुद्ध 1967
43. वीरेन डंगवाल : तारंता बाबू से कुछ सवाल : दुश्चक्र में स्रष्टा : राजकमल प्रकाशन, 2002
44. शोभाकांत : यात्री समग्र : 'यात्री समग्र' क संदर्भ में ... राजकमल प्रकाशन
45.नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन : पेट का धर्म : इन्सान का धर्म : विपक्ष, जून 1985
46. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन : विषकीट , 1982
47. नेपथ्य में हँसी :राजेश जोशी :बच्चे काम पर जा रहे हैं : राजकमल प्रकाशन 1994
48. नामवर सिंह :अंधेरे में बुद्ध : यथासमय - सहारा समय, 24 मई 2003
49. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन: प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है,1 दिसंबर 1979: हजार-हजार बाँहोंवाली/जनमत, 1 जनवरी 1981
50. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : बतला दो बापू ,क्या थे तुम ? : तुमने कहा था, 1969
51. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन : मास्टर ! : हजार-हजार बाँहोंवाली, 1953
52. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :नाजियों के बाप : पुरानी जूतियों का कोरस / खून और शोले, 1955
53. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :नेहरू : हजार-हजार बाँहोंवाली / खून और शोले, 1955
54. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन : नेहरू : हजार-हजार बाँहोंवाली / खून और शोले, 1955
55. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :झंडा ? : हजार-हजार बाँहोंवाली / खून और शोले, 1955
56. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :मैं हूँ सबके साथ : हजार-हजार बाँहोंवाली / खून और शोले, 1955
57. नागार्जुन रचनावली -1: राजकमल प्रकाशन :संशय में पड़ गए तथागत: हजार-हजार बाँहोंवाली / नयापथ, नवंबर 1956
58. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन :बतला दो बापू ,क्या थे तुम ? : तुमने कहा था, 1969
59. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : हम भी साझीदार थे, 16 अक्तूबर 1979: हजार-हजार बाँहोंवाली/ प्रत्यक्ष, मई-जून, 1980
60. नागार्जुन रचनावली-2: राजकमल प्रकाशन :वाणी ने पाए प्राणदान: इस गुब्बारे की छाया में,
25 जनवरी से 13 फरवरी 1980
61. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : इतना भी क्या कम है : भूल जाओ पुराने सपने, 9 नवंबर 1979
62. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : नदियाँ बदला ले ही लेंगी : पुरानी जूतियों का कोरस,
2 मार्च से 4 जून 1980
63.नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन: अब तो बंद करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन!
: तुमने कहा था / सामयिकी, 1972
64. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : लोकतंत्र के दर्पण में : पुरानी जूतियों का कोरस, 7-8 जनवरी 1981
65. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : प्रजातंत्र का होम : तुमने कहा था , 1973
66. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : पता नहीं, दिल्ली की देवी गोरी है या काली : पुरानी जूतियों का कोरस, 1973
67. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : 26 जनवरी, 15 अगस्त : तुमने कहा था, 1978
68. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : फैल गया है दिव्य मूत्र का लवण सरोवर : तुमने कहा था, 1979

69. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : देखो तो महँगाई की लीला : 24 फरवरी 1980
70. नागार्जुन रचनावली -7 : राजकमल प्रकाशन : दिनांक 9.8.67 का पत्र।
71. नागार्जुन रचनावली -7 : राजकमल प्रकाशन : दिनांक 8.11.70 का पत्र।
72. नागार्जुन रचनावली -7 : राजकमल प्रकाशन : दिनांक 2.12.70 का पत्र।
73. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : नदियाँ बदला ले ही लेंगी: पुरानी जूतियों का कोरस, 2 मार्च से 4 जून 1980
74. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : नदियाँ बदला ले ही लेंगी : पुरानी जूतियों का कोरस, 2 मार्च से 4 जून 1980
75. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : नदियाँ बदला ले ही लेंगी : पुरानी जूतियों का कोरस, 2 मार्च से 4 जून 1980
76. नागार्जुन रचनावली -2 : राजकमल प्रकाशन : लाएँ मीठे वचन कहाँ से : जनयुग, 21 जून 1970
77. नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन :मेरे स्वजन : भूल जाओ पुराने सपने, 5 नवंबर 1975
78.नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : भोजपुर : ऐसे भी हम क्या! ऐसे भी तुम क्या! 12 अप्रैल 1981
79. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन : दीपावली : नवभारत टाइम्स, 3 नवंबर 1991
80. नागार्जुन रचनावली - 6 : राजकमल प्रकाशन : भूख, गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी : देशज समकालीन, 1993
81. नागार्जुन रचनावली-
2: राजकमल प्रकाशन : जान भर रहे हैं जंगल में 5 मई 1981: पुरानी जूतियों का कोरस/साक्षात्कार अक्तूबर, 1981
82.नागार्जुन रचनावली -2: राजकमल प्रकाशन : वे हमें चेतावनी देने आए थे, 30 मार्च 1983: ऐसे भी हम क्या ! ऐसे भी तुम क्या !

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान